Vol. 5
No. 8
DP-9

वैदिक वाग् ज्योतिः

सम्पादक - दिनेशचन्द्र शास्त्री

Approved & enlisted by UGC (Sr. No. 185, J.No. 40741)

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-9

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Vol./ वर्ष-5 January-June 2017 No./ अंक 8

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
January-June 2017

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Ram Prakash, Chancellor
Dr. Surendra Kumar, Vice Chancellor

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Head, Dept. of Veda, GKV,
Haridwar-249 404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541

Advisory Board

Prof. B.L. Bharteeya, Rajasthan
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Dr. Vinod Chandra Vidyalankar, Jwalapur
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Suneel Joshi, Haridwar
Prof. Ishwar Bharadwaj, Haridwar
Prof. Rakesh Sharma, Haridwar
Prof. Nicholas Kazanas, Athens (Greece)
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Rajendra Vidyalankar, Kurukshetra
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Kamalesh Chaukashi, Ahamedabad, Gujrat
Prof. Renubala, Amritsar
Dr. Nagendra K. Neeraj, Haridwar
Prof. Vikram Kumar Viveki, Chandigarh
Prof. Sharada Sharma, Delhi
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof. R.C. Dubey, Haridwar
Prof P.C. Joshi, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Dr. Aparna Dhir, New Delhi

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna, V.C. Patanjali University
Prof. P.K. Dixit, V.C. U.S. University

Departmental Advisory Board

Prof. Roopkishor Shastri
Prof. Manudev Bandhu

Reviewers

Prof. Manoj Kumar Mishra, Delhi
Dr. S.P. Singh, Delhi

Finance Advisor

Sh. R.K. Mishra, F.O.
Sh. Shashi Kant Sharma, ACMA
Sh. Naveen Kumar

Business Manager

H.O.D. Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 200.00 Annual, US $ 20,
Single Copy: Rs. 100.00
Rs. 1000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar,
G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Vinod Kumar
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly Refereed & Peer-Reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, uttarakhand only *-Editor in Chief*

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar - 249 404 Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

***Note :** For subscription and related enquiries feel free to contect Business Manager & editor*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
January-June 2017

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed & peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate Swāmī Dayānand Sarswatī's thoughts and opinions for clearing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. वेद विषयक भ्रांतियों को दूर करने से सम्बन्धित स्वामी दयानन्द की विचारधारा को गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।

Approved & enlisted by UGC (Sr. No. 185, J.No. 40741)

ISSN : 2277-4351 **RNI Reg:UTTMUL 2012/53882**

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Vol./वर्ष-5 **January–June 2017** **No./अंक 8**

सम्पादक

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India

http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम।
ज्योक् च सूर्य्यं दृशे।। ऋ. 1/23/21

पदार्थः–(आपः) आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वान् पदार्थांस्ते प्राणाः (पृणीत) पूरयन्ति। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोडन्तर्गतो ण्यर्थश्च। (भेषजम्) रोगनाशकव्यवहारम् (वरूथम्) वरं श्रेष्ठम्। अत्र *जॄवृञ्भ्यामूथन्।* उ० 2/6 अनेन 'वृञ्'धातोरूथन्प्रत्ययः। (तन्वे) शरीराय (मम) जीवस्य (ज्योक्) चिरार्थे (च) समुच्चये (सूर्य्यम्) सवितृलोकम् (दृशे) द्रष्टुम्। *दृशे विख्ये च।* अ० 3/4/11 अनेनायं निपातितः।।

अन्वयः–मनुष्यैर्या आपः प्राणाः सूर्य्यं दृशे द्रष्टुं ज्योक् चिरं जीवनाय मम तन्वे वरूथं भेषजं पृणीत प्रपूरयन्ति ता यथावदुपयोजनीयाः।।

भावार्थः–नैव प्राणैर्विना कश्चित्प्राणी वृक्षादयश्च शरीरं धारयितुं शक्नुवन्ति तस्मात् क्षुत्तृषादिरोगनिवारणार्थं परममौषधं युक्त्या प्राणसेवनमेवास्तीति बोध्यम्।।

पदार्थ–मनुष्यों को योग्य है कि सब पदार्थों को व्याप्त होने वाले प्राण (सूर्य्यम्) सूर्यलोक के (दृशे) दिखलाने वा (ज्योक्) बहुत काल जिवाने के लिये (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (वरूथम्) श्रेष्ठ (भेषजम्) रोग नाश करने वाले व्यवहार को (पृणीत) परिपूर्णता से प्रकट कर देते हैं उनका सेवन युक्ति से ही करना चाहिये।।

भावार्थ–प्राणों के बिना कोई प्राणी वा वृक्ष आदि पदार्थ बहुत काल शरीर धारण करने को समर्थ नहीं हो सकते, इससे क्षुधा और प्यास आदि रोगों के निवारण के लिये परम अर्थात् उत्तम से उत्तम औषधों को सेवने से योगयुक्ति से प्राणों का सेवन ही परम उत्तम है, ऐसा जानना चाहिये।।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्नितरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्नितरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

–प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

सम्पादकीय - वेद के मूल-अर्थ की गवेषणा *v*

हिन्दी संभाग

1. **सृष्टि का आधार सत्य : वेदों के सन्दर्भ में** 01
–डॉ. भारतेन्दु द्विवेदी

2. **मानव : शाकाहारी या मांसाहारी : वैज्ञानिक दृष्टिकोण** 09
–डॉ. नागेन्द्र कुमार नीरज

3. **ऋग्वेद प्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी में प्रतिपादित वर्णमाला का तुलनात्मक अध्ययन** 25
–डॉ. प्रदीप कुमार कौण्डल

4. **उपनिषदों में भक्ति तत्त्व** 36
–डॉ० संदीप कुमार चौहान

5. **ऋग्वेद के कतिपय पदों पर आर.टी.एच. ग्रिफिथकृत अर्थों का तुलनात्मक दिग्दर्शन** 40
–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री एवं रुचि अग्रवाल (शोधच्छात्रा)

6. **वेदों में धर्म की अवधारणा** 53
–डॉ. बबलू वेदालंकार

7. **वेदों में पुनरुक्ति : पाश्चात्य विद्वान् जे. खोंदा का अभिमत** 59
–प्रेम प्रकाश लाल शोधार्थी, प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

8. **शाङ्कर भाष्य में ब्रह्म भेद-विवेचन** 103
–डॉ० सुरेन्द्र कुमार, किरण वर्मा

9. **मन के विकार क्रोध का यौगिक प्रबन्धन** 115
–डॉ. ऊधम सिंह

10. **योगाभ्यास करने वाले तथा न करने वाले विद्यार्थियों के तनाव स्तर का तुलनात्मक अध्ययन** 126
–उदय प्रकाश वर्मा, डॉ अरुण कुमार, रणविजय सिंह

संस्कृत सम्भागः

11. **महर्षिदयानन्दसरस्वतीनां वैदिकाख्यानव्याख्यानम्** 144
–प्रो. मानसिहः

English Section

12. In the Beginning - the start of Philosophy in the Rigveda **150**
-Dr Nicholas Kazanas

13. Influence of Puranas on the Subsequent Yogic Literature **160**
-Dr. Indulata Das

14. List of Researches on Vedic-Subjects Conducted by Different Universities/Institutions **168**
-Premprakash Lal (Research Scholar)

15. **पत्र एवं सम्मतियां** **189**

✦✦✦

सम्पादकीय.......

वेद के मूल-अर्थ की गवेषणा

गत दिनों मुझे एक वेद-सम्मेलन में जाने का सौभाग्य मिला। उस सम्मेलन में एक बात निकलकर आयी कि 'स्वामी दयानन्द ने वेदों का अर्थ करने के लिये हमें एक दृष्टि दी है, उसे अन्तिम न मानकर अपितु आधार बनाकर स्वयं भी कुछ विचार करना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करते तो अपने ग्रन्थों में "**तर्को वै ऋषिः**" के प्रबल पक्षधर दयानन्द के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि नहीं होगी'।

उक्त सम्मेलन के निष्कर्ष-रूप में इंगित इस मार्मिक वक्तव्य को आधार बनाकर हम कुछ कहना चाहते हैं कि मानव के शारीरिक अंगों व जिह्वा आदि नैसर्गिक विशिष्ट रचनाओं के अनुसार संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न भाषाऐं चल निकलीं। बहुत बाद में चलकर उनके व्याकरण व निरुक्त आदि लिखे गये ताकि परवर्ती पीढ़ियाँ एक सीढ़ी के डण्डे पकड़-पकड़कर ऊपर को चढ़ सकें और छत के ऊपर के पूर्वजों से जुड़ सकें। व्याकरण व निरुक्त का सम्बन्ध बाद की पीढ़ियों से है ना कि प्राचीन पीढ़ियों से। परवर्ती पीढ़ियों की निरुक्तियाँ व व्याकृतियाँ प्राचीन पीढी की उद्भावनाओं से जुड़ भी सकती है, नहीं भी इसलिए यौगिक अर्थ किये जाने की भी एक सीमा है, यह अच्छी प्रकार समझ रखनी चाहिए। उदाहरण के लिए वेदों में जहाँ '**दुहिता**' शब्द का प्रयोग "**वृणीष्व दुहितर्दिवः** (ऋ. 10.127.8) **तद्वो दिवो दुहितरो विभातीः** (ऋ. 4.51.11)" आदि स्थलों पर किया गया है वहां '**दुहिता**' का अर्थ '**दुहिता दुर्हिता दूरेहिता**' वाले निर्वचन के अनुसार करने की आवश्यकता नहीं है। स्वामी दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **सत्यार्थप्रकाश** में यह अर्थ सम्भवतया इस सन्दर्भ में किया कि लड़की को दूरस्थ प्रदेशों में विवाह करने पर राष्ट्र की भावात्मक एकता अधिक सुलभ हो सकती है; किन्तु जहां पर **दुहिता** का प्रश्न है उसमें स्पष्ट रूप से बालिका के प्रति '**बोझ की भावना**' की गन्ध आती है जो कि वैदिक काल में कल्पना-बाह्य थी। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि परवर्ती युग में जन्मे व्याकरणकार व निरुक्तकार या कोषकार जब कुछ लिखने या करने बैठते हैं तो उनको यदा कदा अपने युग के संस्कार घेर लेते हैं। उदाहरणार्थ दहेज के युग का निरुक्तिकार जब '**दुहिता**' का निर्वचन करेगा तो अपने युग के संस्कारों से प्रभावित होगा ही होगा। 'कोष' का उदाहरण लीजिए। मुर्दों को ढोने वाली शिविका के लिए संस्कृत में 'शवरथः' का प्रयोग है। प्राचीन कवियों ने मृत्यु के बाद

स्पष्ट ही अपने नाटकों में पात्रों से 'रथ तैयार' करने की बात कहलायी है। यह रथ परवर्ती युग में भाषाविज्ञान के प्रागुपजन नियम के अनुसार (जैसे कि 'मां' का अम्मा, 'जी' का अजी, 'रे' का अरे आदि) अरथ बन गया तथा उच्चारण-सौकर्य के नियमानुसार अर्थ और शिविका के स्त्रीलिंगनिष्ठ संस्कार के कारण 'अर्थी' चल पडा होगा। किन्तु हमारे युग का हिन्दी मानक शब्दकोशकार श्री रामचन्द्र वर्मा जब अपने कोष में 'अर्थी' पर विचार करने बैठा तो लिख बैठा-"यहां 'र' पूरा होना ही व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है। शब्द है अरथी जो 'रथ' नहीं है (द्रष्टव्य, हिन्दी मानक शब्दकोष)। वास्तव में 'अर्थी' यदि 'रथ' न होता तो उसका देखना मंगल-सूचक क्यों माना जाता?

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि किसी शब्द की व्याकृति या निरुक्ति करने मात्र से ही शब्द मर्म नहीं जाना जा सकता अपितु जिस समाज में यह शब्द बना उसके संस्कारों, उसके समाजशास्त्र व इतिहास में भी दृष्टि उलझानी पडेगी। इसीलिए महाभारतकार की यह उक्ति बड़ी सटीक है कि-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति।।

(आदि पर्व, 1/204 पूना संस्करण)

अर्थात् वेदों का अर्थ जानने के लिए इतिहास-पुराण (सामाजिक मान्यताएं व साहित्य-परम्पराएं) आदि का भी गम्भीर अध्ययन करें। मात्र यौगिक अर्थ से सन्तोष करना पर्याप्त नहीं है। मेरी दृष्टि में 'रूढि' अर्थों की भी एक सीमा है और 'यौगिक' अर्थों की भी। इसलिए मेरी दृष्टि में भाषाविज्ञान व्याकरण व निरुक्त से कहीं अधिक शक्तिशाली होता है। 'जरूर' के लिए उसी अर्थ में, उच्चारण सौकर्य के लिए 'बेजरूर' चल पडा तो चल ही पडा। जनता कहती है-आपको 'बेजरूर' आना है। जब यह फैल जायेगा तो व्याकरणकार इसका अर्थ 'अत्यन्त आवश्यक' करके ही रहेगा। बेनजीर या बेमिसाल की पद्धति पर नकारात्मक अर्थ नहीं कर सकता। नौका चलाने वाले उपकरण या करण का 'र' यदि ऊपर चला गया और उसको चलाने वाला कर्णधार हो गया तो रोने चीखने की आवश्यकता नहीं। **शब्द-रचना पर व्याकरण का नहीं मानसिक प्रक्रियाओं का प्रभाव प्रमुख रूप से पड़ता है।** जहां निरन्तर डूबने का डर बना रहता है वहां 'र' ऊपर चला गया तो कोई आसमान नहीं फट गया। पाणिनि ने भी निपातन व उणादिगण की घोषणा करने में ही खैर समझी थी। अर्थी को देखकर जो मानसिक व्यग्रता उभार लेती है उसमें 'र' ऊपर को उभर गया होगा। बच्चा हर भूभाग पर जन्मा था। कायिक व आन्तरिक रचनाओं की भिन्नता के अनुसार कहीं माँ चल निकला कहीं मम्मी, कहीं कोई अन्य शब्द।

बाद में माँ के दूध के लिए कुछ भूभागों पर 'मिल्क' शब्द में 'म' की ध्वनि बनी रही। कहीं का बच्चा धीरे-धीरे द (दे दे द द) ध जैसे शब्द सौकर्य से बोल सका तो दुध या दूध शब्द चल निकला। बाद में दुधिता या दुहिता (दूध निकालने वाली) जैसा शब्द चल निकला। पारिवारिक संस्कृति के विकास के उपरान्त कुंवारी बच्ची को दूध या गाय जैसी पवित्रता का स्पर्श दे दिया गया। अन्य भाषाओं के डाटर आदि शब्द संभव है दूध के या मिल्क के प्रकरण में न निकलकर अन्य किन्हीं पवित्र सन्दर्भों में निकले हों, क्योंकि अपनी लड़की के प्रति पिता की पवित्रता का भाव हर उन्नत संस्कृति में है। अपने यहां **दुहिता** से यही पवित्रता का बिम्ब बनता है। निरुक्तकार का **दुहिता दुर्हिता** वाला निर्वचन यहां घसीटने की आवश्यकता नहीं।

'रूढि' शब्द का अर्थ भी इस सन्दर्भ में जान लेना उचित प्रतीत होता है। आज कोई भी व्याख्या हमें वेद-रचना के समकालीन नहीं प्राप्त है। सायण, महीधर आदि बहुत परवर्ती युग के व्याख्याकार हैं। उनके समय तक 'अवतारवाद' भारतीय मानस में पैर जमा चुका था, जबकि वेद उपनिषद् तो बहुत पहले की रचनाऐं हैं, स्वयं मूल बाल्मीकि रामायण (5 काण्डों वाली न कि 7 काण्डों वाली) में अवतारवाद नहीं है। अतः रूढि का अर्थ वैदिक मान्यताओं की परम्परा से नहीं है अपितु सायण आदि के समय के विश्वासों से है और उनको 'रूढि' इसलिए कहा गया है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती उनके बहुत बाद में हुए। 'रूढि' शब्द का प्रयोग निरपेक्ष नहीं किन्तु सापेक्ष दृष्टि से किया गया है। इसका वेदकालीन मान्यताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह बात नहीं है कि सायण आदि आचार्यों ने केवल रूढ अर्थ ही दिए हैं। निरुक्त और व्याकरण का सहारा उन्होंने भी लिया है। किन्तु संस्कृत का व्याकरण-शास्त्र इतना लचीला व आकर्षक है कि वहां न केवल एक धातु के दो या दो से अधिक अर्थ हैं किन्तु कभी-कभी एक शब्द की व्युत्पत्ति एक ही नहीं किन्तु अनेकानेक धातुओं के क्षेत्र में आ घुसती है। स्वयं 'वेद' शब्द की व्युत्पति विद् ज्ञाने, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम्, विद् विचारणे आदि एकाधिक धातुओं के अधिकार-क्षेत्र में आती है। कभी-कभी तो यहां तक देखने में आया है कि धातु एक ही है किन्तु अर्थ परस्पर विरोधी है। उदाहरण-हन् धातु को लीजिए। हिंसा भी अर्थ है, गति भी उसका अर्थ है। दिव् धातु का अर्थ द्यूत खेलना भी है, भगवान् की स्तुति करना भी है। सायण ने अपने समय की मान्यताओं के अनुसार वेद-वाक्यों के अर्थ मूर्तिपूजा-परक किए। 19वीं सदी में आचार्य राममोहन राय आदि के समक्ष जब भारतीय समाज को ऊपर उठाने की बात आयी तो उन्होंने इन परम्परा-प्राप्त अर्थों में संशोधन करने के लिए लेखनी उठाई। श्री राय, संस्कृत के भी उच्चकोटि के पंडित थे।

किन्तु उनकी मान्यताओं में पाश्चात्य संस्कारों का इतना प्राबल्य था कि रूढिग्रस्त भारतीय समाज, जिसमें हिन्दू ही नहीं, मुस्लिम, सिक्ख व ईसाई आदि भी तब तक आ चुके थे, श्री राय की औपनिषदिक व्याख्या या वेदमन्त्र-सम्बन्धी लेखों के प्रति आकर्षित नहीं हुआ। यद्यपि बिना वेद या उपनिषद् का उद्धरण दिए जो वे बातें कहते थे वे सबको, उपयोगी होने से, अच्छी लगती गईं। हिन्दुओं को उन व्याख्याओं में, जो कि सायण आदि पर संशोधन के रूप में प्रस्तुत की जा रही थीं, संशोधनवाद की गंध आई। अन्य धर्मावलम्बियों को लगा कि राय साहब अपने प्राचीन ग्रन्थों को आधुनिकता के प्रकाश अर्थात् जिसे मैं नवोन्मेष (Innovation) कहता हूँ, में उपयोगी बनाने का प्रयास कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत के पाश्चात्य विद्वानों की ही भांति, श्री राय को व्याकरण ग्रन्थों व निरुक्त का गहरा ज्ञान नहीं था। इस सबके परिप्रेक्ष्य में महर्षि दयानन्द आगे आये। वे वेद के साथ वेदांगों के भी गहरे ज्ञाता थे। उन्होंने व्याकरण-ग्रन्थों व निरुक्त, निघण्टु आदि के लचीलेपन का पूरा लाभ उठाकर घोषणा कर दी-'सायण, महीधर आदि के अर्थ स्वयं में संशोधन या मोड़ तरोड़ से ग्रस्त हैं। अतः इस मोड़ तरोड़ से पीछा छुडाकर मूल अर्थों की ओर जाने की आवश्यकता है। दयानन्द अपने तीसरे प्रसिद्ध सिद्धान्त/नियम में जब कहते हैं कि 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' तो उनका यही भाव होता है कि वेद के सही व्याख्याकारों की आवश्यकता है। वेद के अर्थों में सायण, महीधर या मैक्समूलर आदि ने जो खींचातानी की है वह दृष्टि शत-प्रतिशत सही नहीं है। दयानन्द की इन घोषणाओं ने युग-परिवर्तन कर दिया। उनकी व्याख्यायें मूर्तिपूजा के खण्डन से परिपूर्ण थीं। मुस्लिम लोग उनकी ओर आकर्षित होने लगे। 19वीं शताब्दी के मध्यकाल में भावना-स्तर पर हिन्दु-मुस्लिम एकता के पीछे महर्षि दयानन्द के प्रयासों का ही चमत्कार था। ये प्रयास सामाजिक स्तर पर भी थे तथा बौद्धिक व आध्यात्मिक स्तर पर भी थे। सन् 1876 में दिल्ली दरबार के समय अजमेरी गेट के बाहर आयोजित सर्वधर्म-सम्मेलन में महर्षि ने सर सय्यद अहमद खां को सादर आमन्त्रित करके इस कडी को और आगे बढ़ाया था। सिक्ख भी 'अकाल' के उपासक हैं अतः महर्षि के 'निराकारवाद' से उनको भी मतभेद नहीं था। आगे चलकर शहीद भगत सिंह जैसों के परिवार आर्यसमाजी बन गये थे। लोगों का विश्वास बन गया था कि अपने धर्म में रहता हुआ भी व्यक्ति दयानन्द-निर्दिष्ट पथ का अनुगामी बन सकता था। ***रूढियों व सामाजिक अन्यायों को बिना दूर किए कोई समाज आगे नहीं बढ़ सकता,*** ऋषि की इस उद्भावना से भी सब सहमत थे। विधवा- विवाह, आधुनिक विज्ञान को भी अध्ययन का विषय स्वीकार कर लेना, अस्पृश्यता- निवारण आदि ऐसे प्रगतिशील बिन्दु थे कि भारतीय ईसाई भी स्वामीजी में श्रद्धा रखने लगे थे। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि पर जोर देने के कारण जैन भी

स्वामी जी से निकटता अनुभव करने लगे थे। कालान्तर में भगतसिंह, अशफाक उल्ला आदि भी पं. रामप्रसाद बिस्मिल जो कि कट्टर आर्यसमाजी थे, के कर्म-क्षेत्र व विचार-क्षेत्र में शिष्य बने, इसके पीछे महर्षि के इस युग-परिवर्तन का ही चमत्कार था। 19वीं सदी के अन्त में महाराष्ट्र में गणेशपूजा व बंगाल में दुर्गापूजा का कुछ राष्ट्रीय नेताओं द्वारा सार्वजनिक समर्थन एक बार फिर इस साम्प्रदायिक एकता को छिन्न-भिन्न कर बैठा। ऐसा नवजागरणकाल का इतिहास लिखने वालों ने लिखा है। वेदभाष्यकार दयानन्द सरस्वती की लीक को छोड़ देने के कारण, राष्ट्र एक न बन सका। टुकड़े होकर रहा। साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर आगे चलकर हुतात्मा श्रद्धानन्द और महात्मा गांधी जैसे युग-प्रणेताओं को जान कुर्बान करनी पड़ी। देश की साम्प्रदायिक एकता आज तक प्रश्नचिह्नों से आक्रान्त चली आ रही है। इस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि दयानन्द की वेद-व्याख्याओं के चमत्कार ने पूरे राष्ट्र को अपने समय में एक बनाकर खड़ा कर दिया था क्योंकि वे संशोधन करने मैदान में नहीं उतरे थे किन्तु मूल-अर्थों की गवेषणा का ईमानदार प्रयास ही महर्षि का लक्ष्य था।

जिस समय महर्षि दयानन्द वेदों पर शोध कर रहे थे पश्चिमी जगत् में भी वेदों का अनुसन्धान हो रहा था। वेद के क्षेत्र में एक से एक साधना पश्चिम के स्वनामधन्य वैदिक विद्वानों ने की है। सन् 1914 से पूर्व की अन्ताराष्ट्रिय घटनाओं से ऊबकर कुछ संस्कृत प्रोफेसर (ईसाई) वेदों को सीने से लगाकर कहीं गुहागत हो गये और कहने वाले ऐसा कहते हैं कि जब वे लम्बे अरसे बाद बाहर आये तो धरती के पेट में इधर-उधर फैले लम्बे चौड़े गड्ढों को देखकर चकित हो गये। वे और भी विस्मय में पड़ गये कि जब उन्हें बताया गया कि इसी बीच 'प्रथम विश्व महायुद्ध' जैसी एक दुर्घटना हुई थी और वे गड्ढे बमों के पड़ने से बने। इस प्रकार की अटूट साधना की मिसाल मेरी दृष्टि में भारत में कोई नहीं है। वेदों का उद्धार इन पाश्चात्य ऋषियों ने उस समय किया जब पश्चिम तो पश्चिम स्वयं भारत में वेदों को पूछने वाला कोई शासक या अन्य प्रभावशाली व्यक्ति नहीं था। दयानन्द जैसे निर्धन सन्तों की बात अलग है। ऐसी स्थिति में हम भारतीयों को उनका ऋणी होना अपेक्षित है। आक्सफोर्ड के प्रोफेसर आर्थर ऐन्थोनी मैक्डानल प्रथम महायुद्ध के भीषण बमकाण्डों के बीच भी वेदों पर शोध करते रहे और सन् 1916 के मध्य में उनका अमर ग्रन्थ 'वैदिक ग्रामर' विपश्चिज्जनों के समक्ष आया उसका महत्त्व किसी भी यास्क या पाणिनि के प्रयासों से कम नहीं है। ***वेद-सम्मेलनों में गत दशकों से एक जैसी रटी रटाई वक्तृताओं को देकर प्रत्येक व्याख्यान के लिए प्राप्त पारिश्रमिक राशियों से पुरस्कृत होने वालों तथा वेद के नाम पर चन्दा एकत्र करके लखपति बन जाने वालों की बात नहीं की जा रही है, मैं यहां पर उन***

लोगों की बात कह रहा हूँ जिन्होंने अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ काल (युवावस्था) वेदांगों व पाश्चात्य दृष्टि का समन्वित अध्ययन करके वेद के पठन-पाठन एवं सम्पादन में लगाया है और अब भी गरीबी में रहकर ऐसा कर रहे हैं।

दो प्रकार की दृष्टि इन पाश्चात्य विद्वानों की देखने में आती है जिसमें उन्होंने वेदों का अर्थ समझने के लिए विकासवाद और तुलनात्मक भाषाविज्ञान को ही आधार बनाया है। इनमें से एक दृष्टि वह है जो कि सायण आदि व्याख्याकारों की उचित बातों को भी स्वीकृति देती है किन्तु साथ ही विरोधाभासों को भी उजागर करती है। उदाहरणार्थ विष्णुसूक्त में भारतीय व्याख्याकारों ने '**मृगो न भीमो कुचरो गिरिष्ठाः**' में 'गिरिष्ठाः' का अर्थ शेर (उपमेय) के पक्ष में पर्वतवासी लगाया है, विष्णु-पक्ष में 'गिरि=वाचि कृतनिवासाय' अर्थात् 'वाणी में रहने वाला' किया है। ऐसी असम्बद्धता का परिचय पाश्चात्य संस्कृतज्ञों व वेदज्ञों ने नहीं दिया है। कारण सीधा है। यह कैसे सम्भव है कि एक ही शब्द में एक ओर 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' का नियम लग जाये, दूसरी ओर न लगे? इस प्रकार के अर्थ वालों से वे भारतीय व्याख्याकार ही बेहतर हैं जिन्होंने 'गिरिवदुन्नतप्रदेशे स्थितः' अर्थात् 'पर्वत की तरह उन्नत लोकवासी' जैसा कुछ अर्थ किया है। प्रो. मैक्डानल आदि ने सारे विशेषण उपमेय (शेर) को ही देकर अधिक वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है क्योंकि बिम्ब व प्रतीकों से सुसज्जित कविता जिसका कि वेद में प्राधान्य है, के समक्ष उपमा या श्लेषोपमा कोई खास महत्व नहीं रखती, ऐसा कुछ लोगों का मानना है। आगे चलकर यही विशेषण 'गिरिक्षिते' वृषभ के लिये प्रयुक्त है। अतः श्लेषोपमार्थकता से दूर रहने में ही प्रो. मैक्डानल को श्रेयस्कर लगा। यद्यपि मैं स्वयं में इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं कि वेद में उपमा का प्रतीक या बिम्ब की तुलना में कोई खास महत्व नहीं है। वैदिक उपमाओं का कोश-निर्माण करते समय मैंने ऐसे कई उदाहरण पाये हैं जिनमें प्रतीक या बिम्ब की तुलना में उपमा प्रभावशाली है। उपर्युक्त उद्धृत मन्त्र में सायण ने स्वयं विकल्प से 'पर्वत की तरह ऊंचे प्रदेश में रहने वाला' अर्थ की स्वीकृति दी है। इसी प्रकार इसी सूक्त में आगे चलकर विष्णु के लिए 'उरुगायाय' शब्द के अर्थ में मैक्डानल को यास्क का अर्थ अधिक उपयुक्त लगा, सायण का नहीं। यह उन्होंने अपनी टिप्पणी में नीचे स्पष्ट कर दिया है। इसी सूक्त में 'कुचरः' शब्द के अर्थ में सायण व यास्क एक मत हैं किन्तु प्रो. मैक्डानल ने दोनों को चुनौती देकर बताया है कि पदपाठ में इसका विश्लेषण नहीं किया गया अतः 'कु' को स्वतन्त्र शब्द मानना असंगत है। 'सोम' के प्रसंग में प्रो. मैक्डानल ने कहा है कि 'अवेस्ता' में इसे होम कहा गया है और उसकी वही सब विशेषताएें बताई हैं जो ऋग्वेद में दी गई हैं। दोनों स्थानों पर इसे दूध में मिलाकर पीने की बात

कही गयी है तथा धरती आकाश में बरसने वाले पानी की प्रेरक शक्ति के रूप में भी स्मरण किया गया है। प्रो. मैक्डानल को पढ़ने के बाद ही आधुनिक तरीके से पढ़ने वाले वेद के विद्यार्थी को यह सोचने का अवसर मिलता है कि 'सोम' शराब जैसी वस्तु नहीं है अन्यथा यह कैसे सम्भव है कि उसे ईरानी (मुस्लिम) सभ्यता या संस्कृति में स्वीकृत कर लिया जाता है? इस प्रकार अन्य भी अनेकानेक रहस्य वेद के विषय में पाश्चात्य साधकों की लेखनी से निःसृत हुए हैं। ये ही वे साधक हैं जिन्हें पढ़कर अनुभव होता है कि वेद के रहस्य को जानने के लिए विश्व-संस्कृति व वेद के ग्रन्थरूप में आने के काल के विश्व-समाज पर भी शोध करना होगा। केवल व्याकरण या निरुक्त (जो कि बहुत बाद के समाज में रचे गये) की कुंजी ही पर्याप्त नहीं है। जहां तक व्याकरण या निरुक्त का ही प्रश्न है वेदार्थ के सन्दर्भ में मैक्डानल के "वैदिक ग्रामर" को उनके पूरक के रूप में ग्रहण करना होगा ठीक उसी प्रकार जैसे कि कात्यायन ने ***"अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्"*** लिखकर महाभारत ग्रन्थ के बहुव्यवहृत 'अक्षौहिणी' (सेना के संदर्भ में) शब्द की अन्विति बिठाकर तथा अन्य शब्दों के रचना नियम जोड़कर पाणिनि को पूरकता प्रदान की।

इन पाश्चात्य विद्वानों की दूसरे प्रकार की दृष्टि को मैं नकारात्मक अर्थात् कपोल कल्पित, भ्रामक एवं पक्षपातपूर्ण एवं फूट डालो राज्य करो की नीति वाली कह सकता हूँ। श्री अरविन्द ने ऐसी दृष्टि वाले पाश्चात्य विद्वानों को ही परिलक्षित करते हुए लिखा है कि ***प्राकृतिक क्रीडा के परस्पर-विरोधी रूपक में और इतिहाससम्बन्धी रूपक में मेल बैठाने की चेष्टा करते हुए पाश्चात्य पण्डितमण्डली ने वेद के विषय में जो अपूर्व गोलमाल किया है वह वर्णनातीत है।*** बात ये है कि उक्त द्वितीय दृष्टि वाले पाश्चात्य मान्यता वालों ने वेद में समागत आर्य, दास और दस्यु पदों से जो भारत के आदिवासियों की कल्पना की है, यह सब भ्रांतियाँ वेद को आर्यों की दृष्टि से अपमानित करने के लिए लिखी गयी हैं। वस्तुतः आर्य और आदिवासियों के युद्ध का वर्णन वेद में नहीं है। आर्य, दास और दस्यु जातियाँ कोई नहीं थीं, प्रत्युत वेद के ये पद गुणवाचक हैं, जातिवाचक नहीं। इनसे यह ज्ञात होता है कि ***भारत में ही नहीं अपितु विश्व-इतिहास में आर्य व दस्यु (अनार्य) कभी भी दो जातियां नहीं रहीं किन्तु दो वर्ग रहे हैं और इस द्वन्द्वात्मक जगत् में विकास की पगडण्डी को बनाते जाने के लिए सदा रहेंगे।***

वेद में मुख्य रूप से आर्य शब्द दो प्रकार से आया है। एक अपत्य अर्थ में, जैसे अर्यस्य अपत्यम् आर्यः और दूसरा ऋ गतिप्रापणयोः धातु से ण्यत् प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया गया है। इसका अर्थ है-**अरणीयः प्रापणीयः गमनीयः,** अर्थात् जिसके पास जाया जाये। परन्तु वेद में ऐसे भी मन्त्र आते हैं, जहां आर्य पद शत्रु के

विशेषण में आया है। वहां इसका अर्थ होगा बलवान् अथवा महान् अर्थात् अभिगमनीय= जिस शत्रु पर अभिगमन अर्थात् चढ़ाई करनी चाहिए।

दास शब्द वेद में मुख्यत: दो धातुओं से बना है–एक **दसु उपक्षये** और दूसरा **दासृ दाने** से। उपक्षयकारी घातक के लिए दसु धातु का प्रयोग हुआ है, और जहां वेद में भृत्य या किंकर अर्थ में दास पद आया है, वहां 'दासृ दाने' धातु से बना है। वेद में दास शब्द आद्युदात्त और अन्तोदात्त भेद से उपलब्ध होता है। जहां आद्युदात्त है वहां भाव और कर्म में प्रत्यय होता है। इसका अर्थ है–**दस्यते इति दास:।** अर्थात् जिसको मारा जाए। और अन्तोदात्त में **दासयति इति दास:** जो मारता है अथवा जो हिंसक है, वह दास है। दस्यु पद भी वेद में **दसु उपक्षये** धातु से बना है। **दस्यति नाशयति इति दस्यु:** जो नाश करता है वह दस्यु है।

वेद में 'आर्य' शब्द जहां मनुष्यों तथा जड़ पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है वहीं यह शब्द इन्द्र, श्रेष्ठ व्यक्ति, ज्योति, व्रत तथा प्रजा के विशेषणों में भी आया है। इसी प्रकार 'दास' शब्द भी वेद में मनुष्यों तथा जड़ पदार्थों के लिए आया है। दास और दस्यु पद मनुष्यों और शम्बर आदि के विशेषण में भी आये हैं।

उक्त दूसरे प्रकार की दृष्टि वाले पाश्चात्य विद्वानों ने दास और दस्यु पदों से जो भारत के आदिवासियों की कल्पना की है, यह सब भ्रान्तियाँ वेद को आर्यों की दृष्टि से अपमानित करने के लिखी गयी हैं। वस्तुत: आर्य और दस्यु तथा दासों का युद्ध जो वेद में आया है, वह मानवीय नहीं, प्रत्युत इन्द्र-वृत्र अथवा विद्युत् और मेघ का अन्तरिक्ष में जो संघर्ष है, वह प्राकृतिक युद्ध है। पाश्चात्य मान्यता के लेखकों ने जो मनुष्यों का युद्ध है, ऐसा सिद्ध करने की चेष्टा की है, वह निराधार कल्पना है। इसी मान्यता के लेखकों ने शम्बर, चुमुरि, धुनि, पिप्रु, वर्चिन् तथा इलीविश शब्दों के आधार पर जो यह लिखा है कि–ये लोग आदिवासियों के प्रमुख सरदार थे, उनकी यह कल्पना भी निराधार है। शम्बर आदि सब मेघों के नाम हैं। इसके लिए ऋग्वेद 1.59.6 द्रष्टव्य है। मन्त्र में स्पष्ट है कि जब इन्द्र अर्थात् विद्युत्तरंगों ने शम्बर अर्थात् मेघ का प्रहार किया तो शम्बर मेघ से जल की धाराऐं फूट निकलीं। निरुक्त में भी इन्हें मेघ ही लिखा है। अत: द्वितीय दृष्टि-सम्पन्न पाश्चात्यों की उक्त कल्पना भी उनकी अज्ञानता अथवा पक्षपात को सिद्ध करती हे। वेद में 'अनास्' शब्द आया है, इसे देखकर उक्त पाश्चात्यों ने अर्थ किया है कि–**जिनकी नासिका नहीं ऐसी चपटी नाक वाले आदिवासी।** उनकी यह कल्पना भी निराधार है। यहां अनास् का अर्थ है–'**न शब्द करने वाले**' अर्थात् मूक मेघ, जो गरजते नहीं। यह 'अनास्' शब्द दस्यु मेघ के विशेषण में आया है। यहां 'चपटी नाक वाले' लिखना भ्रान्ति नहीं तो और क्या है? इसके साथ ही इन लोगों ने भारत के आदिवासियों को कृष्णवर्ण अर्थात्

काले रंग की त्वचा वाले लिखा है। उनकी यह कल्पना भी निराधार है। उन्होंने जितने मंत्र अपने पक्ष की पुष्टि में दिए हैं, उन मन्त्रों में कृष्णवर्ण मेघ तथा अन्धकारमयी रात्री का वर्णन है। मन्त्रों में मनुष्यों का कहीं प्रकरण नहीं है। आगे इन लोगों ने लिखा है कि आदिवासियों के पुर थे। वे युद्ध के समय उन अपनी बस्तियों का आश्रय लेते थे। उनकी यह कल्पना भी निराधार है। पुरों के प्रकरण में मनुष्यों का कहीं वर्णन नहीं आता है। यह भी एक प्रकार के मेघ हैं, जिनकी तूफान के समय घटाऐं उठती हैं, उन घटाओं को ही वेद में मेघों के पुर अर्थात् नगर लिखा है। ***इन्द्र अर्थात् विद्युत् वायु आवेष्टित तरंगों से उन घटाओं को तोड़ते हैं, यही इन्द्र का असुरों अर्थात् मेघों की पुरियों का विध्वंसन है।*** इस प्रकार भारत के आदिवासियों के नगरों को आर्य तोड़ते थे, ऐसा लिखना उनकी अज्ञानता और पक्षपात को जहाँ सिद्ध करता है वहीं इनके द्वारा किए गए वर्णनातीत गोलमाल का भी इससे पता चलता है। हमारे देश में फूट का बीजारोपण करने के लिए उक्त मान्यता के लेखकों ने लिख दिया कि-द्रविड, कौल, भील, संथाल आदि मूल-निवासियों का धर्म बाहर से आये हुए आर्यों से पृथक् था। उन्होंने लिखा है कि आदिवासी यज्ञों के विरोधी थे, उनका प्रमुख धर्म लिंग पूजा था। यह भाव उन्होंने वेद में आये हुए **शिश्नदेव** पद से सिद्ध करने का यत्न किया है। उनकी यह धारणा भी मिथ्या एवं कल्पित है। वेद के प्रकरण अर्थात् पूर्वापर प्रसंगों के आधार पर 31 सौ वर्ष विक्रम पूर्व में उत्पन्न हुए यास्काचार्य ने **शिश्नदेव** का अर्थ किया है-**अब्रह्मचर्याः** अर्थात् व्यभिचारी। शिश्नदेव पद से **शिश्नेन ये क्रीडन्ति ते शिश्नदेवाः** अर्थात् जो उपस्थेन्द्रिय से क्रीडा में रत भोगवादी हैं, जो दिन-रात शिश्न में ही रत हैं वे व्यभिचारी **शिश्नदेव** कहलाते हैं। आदिवासी लिंगपूजक थे, ऐसा लिखकर उक्त पाश्चात्यों ने वेद के अर्थों में अनर्थ करने का यत्न किया है। शम्बर, चुमुरि और धुनि आदि शब्दों को वेद में देखकर इन लेखकों ने सिद्ध करने का यत्न किया है कि ये आदिवासियों के प्रमुख नेता थे। यह भ्रान्ति उन्होंने इसलिए फैलाई कि यह सिद्ध किया जा सके कि आर्य लोग बाहर से आये, और यहाँ के मूल-निवासी आदि-वासियों से युद्ध करके विजयी हुए। इनकी यह कल्पना भी निराधार है। क्योंकि जैसा हम पहले लिख चुके हैं कि वेद में शम्बर, चुमुरि आदि मनुष्यों के नाम नहीं हैं, ये तो मेघों के नाम हैं, और वेदमन्त्रों में प्रकरण भी मेघों का ही है। अतः शास्त्र की दृष्टि से **प्रकरणशः एव निर्वक्तव्याः** अर्थात् वेदों के प्रसंगानुसार ही अर्थ करने चाहिए। वेद मन्त्रों में भिन्न-भिन्न मेघों के भिन्न-भिन्न पुर अर्थात् घटाओं का वर्णन आता है। किसी के 100, किसी के 99 और किसी के 90 लिखें हैं। वेद में भिन्न-भिन्न प्रकार के मेघों की जो भिन्न-भिन्न पुर संख्या लिखी है, इसमें गूढ़ रहस्य है। यह मेघ-विद्या के ज्ञाता (Meteorologist) ही अनुसंधान द्वारा सिद्ध कर सकते

हैं, कि किन-किन मेघों से कितनी घटाऐं बनती हैं। अन्तरिक्ष में इन्द्र (विद्युत्) और वृत्र (मेघ) का जो प्राकृतिक संघर्ष है, यही आधिदैविक युद्ध है। यास्क ने भी लिखा है कि इन वेद-मन्त्रों में **'उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति'**। इस रूपकालंकार को आदिवासी और आर्यों का युद्ध करना अपनी अज्ञानता अथवा पक्षपात सिद्ध करना है।

उपर्युक्त के आलोक में जब मैं देखता हूँ तो मुझे बहुत दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि अभी तक भी हमारे देश में यही पढ़ाया और टी.वी. चैनलों के धारावाहिकों में दिखाया जा रहा है कि आर्यों ने भारत के आदिवासियों को युद्ध में परास्त करके भारत में आधिपत्य जमाया। पातंजल महाभाष्य के वचन **यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्** को आधार बनाकर जब हम उक्त दुर्व्याख्याओं पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि इन तथाकथित व्याख्याकारों ने अपने विचार जबर्दस्ती वेदों पर थोपे हैं। जिसके परिणामस्वरूप द्रविड, कोल, भील आदि भारतीयों के हृदय में आर्यों अर्थात् सवर्ण हिन्दुओं के प्रति घृणा आज भी बनी हुई है। यह सब गोलमाल उक्त दूसरी दृष्टि वाले इन पाश्चात्यों ने इसलिए किया चूंकि भारत में ये अपनी सत्ता (औपनिवेशिक शासन) कायम रखना चाहते थे, यह तभी हो सकता था जब यह सिद्ध हो जाये कि हम ही आक्रमणकारी नहीं हैं अपितु हमसे पूर्व आपके देश के आर्य भी आक्रमणकारी थे। अत एव सबसे पहले स्वामी दयानन्द और बाद में डॉ. अम्बेडकर ने बहुत जोरदार शब्दों में इस आर्य आक्रमण सिद्धान्त (Aryan Invasion Theory) का खण्डन करते हुए लिखा कि वेदों में आर्य नामक किसी ऐसे वंश का वर्णन नहीं है जिसने भारत पर आक्रमण किया हो। इसलिए आज हमारा कर्तव्य है कि हर प्रकार से इस वेद-विरोधी विचारधारा को नष्ट करके भारत का कल्याण करें। भौतिक रूप से आजाद होते हुए भी सही अर्थों में अपने को स्वतन्त्र हम तभी समझेंगे जब उक्त विचारों से मुक्त होंगे और यह तभी सम्भव है जब वेदों के मूल अर्थ तक पहुँचा जाये।।इति।

–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

सृष्टि का आधार सत्य : वेदों के सन्दर्भ में

–डॉ. भारतेन्दु द्विवेदी

एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत (अवकाश प्राप्त)

शान्ति निकेतन, ज्ञानपुर (भदोही)

भारत विश्व गुरु कहा जाता है। भारत से ही ज्ञान की ज्योति का प्रसार हुआ। भारतीय संस्कृति को **'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा'** कहा जाता है। वेद वह ईश्वरीय ज्ञान है जो सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने मानव के कल्याण के लिए ऋषियों के माध्यम से प्रदान किया। वेद मानवमात्र के सर्वस्व, प्रकाश-स्तम्भ और शक्ति के स्रोत हैं। वेद मानव जीवन के मार्गदर्शक हैं। वेदों में समाज को समुन्नत बनाने के लिए कर्त्तव्य कर्मों का उल्लेख प्राप्त होता है। वेद ही विश्वशान्ति, विश्वबन्धुत्व और विश्वकल्याण के प्रथम उद्घोषक हैं।

वेदों में सत्य को सृष्टि का आधार कहा गया है। सत्य की आधारशिला पर ही राष्ट्र, समाज और परिवार का अस्तित्व है। वर्तमान समय में व्याप्त समस्याएं सत्य से विमुख होने के कारण ही हैं।

अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सत्य से पृथिवी रुकी हुई है। सूर्य से द्युलोक रुका हुआ है। सत्य से सूर्य रुके हुए हैं।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥[1]

यहाँ कहा गया है कि सत्य ही सृष्टि का आधार है। पृथिवी का आधार भी सत्य है। सत्य की सत्ता से ही सृष्टि कार्य चल रहा है। सत्य न केवल पृथिवी का आधार है अपितु मनुष्य की स्थिरता और दृढ़ता का आधार भी है। मंत्र में कहा गया है सत्य से द्युलोक रुका हुआ है और सत्य से द्वादश सूर्य स्थित हैं। प्रत्येक मास सूर्य की गति में कुछ अन्तर होता है, जिससे विभिन्न राशियों में उसका संक्रमण होता है। इसी आधार पर 12 मासों के 12 सूर्य माने जाते हैं।

सत्य ही सृष्टिचक्र का नियामक है तथा जीवन का रक्षक है। यह बात ऋग्वेद के एक मंत्र में कही गई है। मंत्र में कहा गया है कि मेरा सत्य बोलना मेरी ओर

---

1. अथर्ववेद 14.1.1

से रक्षा करे। उस सत्य से ही द्युलोक और पृथिवी दिन और रात फैले हुए हैं। सारे प्राणी जो गतिशील हैं उस सत्य में ही निवास करते हैं। सत्य के आधार पर ही सदा नदियां बहती हैं और निरन्तर सूर्य उदय होता है।

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो,
द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति,
विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः।।[1]

इस मंत्र में कहा गया है कि सत्य ही इस सृष्टि-चक्र को चला रहा है। द्युलोक व पृथिवी सत्य पर ही आधारित हैं। दिन और रात, नदियों का बहना और सूर्योदय का होना सत्य पर ही आधारित है। मैं सत्यमार्ग पर चलता हूँ। वह सत्य चारों ओर से मेरी रक्षा करे।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि नदियाँ सत्य से प्रेरित होकर सदैव बहती हैं। मंत्र में कहा गया है अविनाशी, अखण्ड रूप से बहने वाली, मधुर जलों वाली, दिव्य नदियाँ युद्ध में जाने के लिए प्रोत्साहित अश्व की तरह सत्य से प्रेरित होकर सदैव बहने के लिए जाती हैं।

ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित् स्रवितवे दधन्युः।।[2]

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है ऋत अर्थात् सत्य नियम जगत् में सर्वत्र हैं। मंत्र में कहा गया है कि सूर्य सत्य नियम से सायंकाल अस्त होता है। सत्य नियम का सर्वत्र विस्तार है। इसके प्रतिकूल चलने वाले बड़े-बड़े वीरों का भी पराभव होता है।

ऋतेन देवः सविता शमायत
ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे।
ऋतं सासाह महि चित् पृतन्यतो
मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्।।[3]

ऋग्वेद में कहा गया है कि द्यावापृथिवी सत्यवादी हैं। वे प्रार्थना सुनते हैं।

द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाऽभिश्रावे भवतः सत्यवाचा।
देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन् त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यत्।।[4]

---

1. ऋग्वेद 10.37.2
2. ऋग्वेद 4.3.12
3. ऋग्वेद 8.86.5
4. ऋग्वेद 10.12.1

अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि ब्रह्मरूपी सूर्य सत्य से ही ध्रुव रूप में चमकता है।

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम्।।[1]

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सूर्य की रक्षक किरणें सत्य की रक्षा करती हैं।

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानी मा शफानां सनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः।।[2]

ऋग्वेद का कथन है कि मित्र और वरुण बड़े पाशों से युक्त और असत्य के रोकने वाले हैं। वे नास्तिक व्यक्ति के लिए अलंघ्य हैं। हे मित्र और वरुण तुम दोनों के बताए सत्य के मार्ग से चलते हुए हम इस प्रकार पापों को और दुखों को पार करें, जैसे नाव से नदी को पार करते हैं।

ता भूरिपाशावनृतस्य सेतू, दुरत्येतू रिपवे मर्त्याय।
ऋतस्य मित्रावरुणा पथा वामपो न नावा दुरिता तरेम।।[3]

यहाँ कहा गया है कि मित्र और वरुण परमात्मा की दो शक्तियाँ हैं। मित्र अग्नितत्त्व है और वरुण जल तत्त्व है। ये प्राकृतिक नियमों के संरक्षक और अनृत के रोकने वाले हैं। असत्य-व्यवहार, असत्य-भाषण, असत्य-आचार ऋत का उल्लंघन है। यह मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। अतः मंत्र में कहा गया है कि अनृत के मार्ग को छोड़कर सत्य के मार्ग पर चलें। जैसे नाव से किसी नदी को पार करते हैं, उसी प्रकार सत्यरूपी नाव से संसाररूपी सागर को पार करें।

राष्ट्र का आधार सत्य

वैदिक ऋषियों ने जहाँ राष्ट्र की परिकल्पना की थी, वहीं राष्ट्र के धारक तत्त्वों को भी निश्चित किया था। अथर्ववेद के *भूमिसूक्त* में कहा गया है 'महान् सत्य, अटल प्राकृतिक नियम, कर्तव्यनिष्ठा, तप, ज्ञान और यज्ञ ये 6 गुण पृथिवी को धारण करते हैं।'

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो, ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।[4]

1. अथर्ववेद 10.8.19
2. ऋग्वेद 1.163.5
3. ऋग्वेद 7.65.3
4. अथर्ववेद 12.1.1

पृथ्वी के धारक छः गुणों में महान् सत्य को प्रथम स्थान दिया गया था। यदि सत्य को छोड़कर चलते हैं तो **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** के अनुसार हम अपनी माता के विरुद्ध चलते हैं। इससे समाज के साथ प्रकृति में भी अव्यवस्था उत्पन्न होगी। इसका परिणाम प्राकृतिक प्रकोप और आपदाएं आज हमारे समक्ष हैं। अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में सत्य और ऋत को संसार का धारक बताया गया है। सत्य से पृथ्वी रुकी हुई है और ऋत से सूर्य रुका हुआ है।[1] आचार्य चाणक्य ने चाणक्यसूत्र में सत्य को संसार का धारक कहा है–

सत्येन धार्यते लोकः।[2]

सत्य की गणना राष्ट्र को धारण करने वाले सर्वप्रथम गुण में की गई है। अथर्ववेद के काण्ड 12 के भूमिसूक्त का आरम्भ ही सत्य से होता है। वैदिक ऋषियों ने जिस राष्ट्र की परिकल्पना की थी उसके लिए सबसे आवश्यक तत्त्वों में सत्य को सर्वप्रथम स्थान दिया था। जिस राष्ट्र में सत्यवादी लोग होते हैं वे ही राष्ट्र को यशस्वी बनाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जो विद्वान् सत्य बोलता है। वह अक्षय यश की प्राप्ति करता है।

एकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव, तस्मादेषां जितमनपजय्यं तस्माद्यश एवं ह वा अस्य जितमनपजय्यमेवं यशो भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति।[3]

भारत राष्ट्र का आदर्श वाक्य **'सत्यमेव जयते नानृतम्'** है। मुण्डकोपनिषद् का यह वाक्य सत्य की ही सदा विजय होती है, यह उद्घोष करता है। साथ ही सत्य के मार्ग पर चलने के लिए स्मरण दिलाता है।

सत्य से ही ब्रह्म की प्राप्ति

यजुर्वेद में कहा गया है कि व्रत (संकल्प) से दीक्षा (कर्तव्यनिष्ठा) को प्राप्त होता है। दीक्षा से दाक्षिण्य को प्राप्त होता है। दाक्षिण्य से श्रद्धा को प्राप्त करता है और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है। यही सत्य ब्रह्म है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।।[4]

मंत्र में व्यक्ति किस प्रकार उन्नति की ओर अग्रसर होता है, इसका वर्णन किया है। किस निश्चित विचार या संकल्प से दीक्षा अर्थात् कर्तव्यनिष्ठा को प्राप्त

1. अथर्ववेद 14.1.1
2. चाणक्यसूत्र 419
3. शतपथ ब्रा. 3.4.2.8
4. यजुर्वेद 19.30

करता है, कर्तव्यनिष्ठा से उसमें कुशलता आती है, कुशलता से श्रद्धा अर्थात् आस्तिकता को प्राप्त होकर सत्य तक पहुँचता है। यही सत्य ही परब्रह्म है। यही कार्य की सफलता का सूत्र है।

महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि सत्य के अतिरिक्त और कोई साधन सिद्धि नहीं दे सकता है। सत्यवादी राजा दोनों लोकों में सुख पाता है।

नहि सत्याद् ऋते किञ्चिद्, राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।[1]

महाभारत में ही अन्य स्थान पर कहा गया है-सत्य से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है।

न सत्याद् विद्यते परम्।[2]

आचार्य चाणक्य ने भी कहा है सत्य स्वर्ग का साधन है। सत्य से बढ़कर कोई तप नहीं है-

नास्ति सत्याद् परं तपः। सत्यं स्वर्गस्य साधनम्।।[3]

सत्य ही ब्रह्म है

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि सत्य ब्रह्म है।

सत्यं ब्रह्मेति सत्यᳬंह्येव ब्रह्म।[4]

मनुष्य जब सत्य व्रत का पालन करते हुए आगे बढ़ता है, तभी वह घोर विपत्तियों को पार करता हुआ सत्यरूपी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सत्य के द्वारा संसार के धारक सत्य ब्रह्म को धारण करते हैं।

ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।
दिवो धर्मन् धरुणे सेदुषो नृञ्जातैरजाताँ अभि ये ननक्षुः।।[5]

यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि ईश्वर का पूजन आवश्यक नहीं है अपितु सत्य का पालन आवश्यक है। मंत्र में कहा गया है मेरा पूजन न करके उस महान् ऋत् का पालन करो और उस महान् सत्य की ही स्तुति करो।

---

1. महाभारत शा. 56.17
2. महा. शान्तिपर्व 109.4
3. चाणक्यसूत्र 417, 418
4. शत. 14.8.5.1
5. ऋग्वेद 5.15.2

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतथ्ंसपर्यत।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शथ्ंं सत।।[1]

यजुर्वेद के उपरोक्त निर्देश का पालन करते हुए ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है मैं सत्य व्यवहार से सत्य ब्रह्म की स्तुति करता हूँ।

ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत् पक्वमग्ने।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय।।[2]

सत्य ही समाज का धारक

सत्य ही समाज का धारक है। अथर्ववेद के काण्ड 4 के 29वें सूक्त में कहा गया है कि जो सत्य का पालन करने वाला होता है, उसे परमात्मा की शक्तियों की सहायता प्राप्त होती है। मंत्र में कहा गया है कि हे मित्र और वरुण आप सत्य को बढ़ाने वाले और स्फूर्ति देने वाले हैं। आप दोनों सत्य पालन करने वाले की उत्तम रक्षा करते हैं। आप दोनों सत्य की स्पर्द्धा में सत्यपालक की रक्षा करते हैं।

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः।।

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः।।[3]

अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि हे मनुष्यों सर्वजनहितकारी सत्य एवं प्रियवाणी ही बोलो। मंत्र में कहा गया है कि सब मनुष्य सत्यभाषण करें और ईश्वर की स्तुति करें। हम इस प्रकार के सत्य वचन कहें और धनों के स्वामी हों।

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया गुणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।[4]

सत्य का मार्ग सुखद

ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि विद्वान् मनुष्य के लिए सरलता से जानने योग्य है कि सत्य और असत्य वचन स्पर्द्धा करते हैं। दोनों में सत्य वचन अधिक सरल है, उसकी ही परमात्मा रक्षा करता है और असत्य वचन को नष्ट करता है।

---

1. यजुर्वेद 4.35
2. ऋग्वेद 4.3.9
3. अथर्ववेद 4.29.1-2
4. अथर्ववेद 6.62.2

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरद् ऋजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्।।[1]

मंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जगत् में सत्य और असत्य की स्पर्द्धा चलती रहती है। परमेश्वर सत्य का सहायक और रक्षक है तथा असत्य का नाशक है। मंत्र में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त करने वाले मनुष्य के लिए सत्य उत्तम ज्ञान कहा जाता है। उनमें जो सत्य है और जो सरल है उसकी सोम रक्षा करता है और असत्य का विनाश करता है। मंत्र में कहा गया है सत्य का मार्ग सरल है और परमात्मा उसी का सहायक होता है। असत्य मार्ग नष्ट करने वाला है। सत्य मार्ग पर चलकर सम्भव है कष्ट भी सहना पड़े और सफलता प्राप्त होने में विलम्ब भी हो परन्तु अन्त में सत्य की ही विजय होती है।

सत्यवादी का मार्ग सुगम और निष्कण्टक

ऋग्वेद में कहा गया है कि सत्य के मार्ग पर चलने वाले का मार्ग सुगम और निष्कण्टक होता है।

सुगः पन्था अनृक्षर, आदित्यास ऋतं यते।
नात्रावखादो अस्ति वः।।[2]

मंत्र में कहा गया है कि सत्य का मार्ग सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। सत्यभाषण, सत्य-व्यवहार, सत्यनिष्ठा, सत्यप्रियता के मार्ग पर चलने वाले का मार्ग सुगम और निष्कण्टक होता है। असत्य मार्ग पर चलने वाले का मन अविश्वास से भरा होता है। सत्यवादी को यद्यपि बाधाएं आ सकती हैं परन्तु वे क्षणिक होती है और वह सत्य के बल पर उन्हें सुगमता से पार कर लेता है।

सत्य समाज में स्थायी अन्न समृद्धि का साधन है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सत्य से स्थायी अन्न समृद्धि प्राप्त होती है।

ऋतस्य दृळहा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः।।[3]

ऋग्वेद के एक मंत्र में सत्यमय जीवन का निर्देश देते हुए वीरों के लिए निर्देश है कि वीरों का आचरण शुद्ध हो, वे पवित्र अन्न का आहार करें, स्वयं शुद्ध, पवित्र और निष्पाप बनें, सत्यमय जीवन से सत्य का व्यवहार करें।

---

1. ऋग्वेद 7.104.12; अथर्ववेद 8.4.12
2. ऋग्वेद 1.41.4
3. ऋग्वेद 4.23.9

शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः।
ऋतेन सत्यमृतसाप आयञ्छुचिजन्मानः शुचयः पावकाः।।[1]

अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सत्यवादी को ही समाज में सम्मान प्राप्त होता है।

द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा।
देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन्।।[2]

अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि विद्वान् सत्य के मार्ग का अनुसरण करते हैं।

ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वान्।[3]

अथर्ववेद के काण्ड 4 सूक्त 36 में सत्य के बल के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इस सूक्त में कहा गया है कि सत्य बल वाला विश्व का तेजस्वी देव उनको भस्म कर डाले जो हमें हमारे साथ शत्रुता का व्यवहार करते हैं। यहाँ यह कहा गया है–ईश्वर में सत्य का बल है और वह असत्य मार्ग पर चलने वाले को भस्म कर देता है।

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा।
यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात्।।[4]

इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि सत्य ही सृष्टि, राष्ट्र, समाज और परिवार और व्यक्ति का धारक तत्त्व है। सत्य मार्ग पर चल रही सृष्टि का संरक्षण किया जा सकता है, राष्ट्र को समुन्नत बनाया जा सकता है। समाज में प्रेम, सद्भाव, श्रद्धा और विश्वास के साथ एकता का भाव पैदा किया जा सकता है। सत्य ही परिवार और समाज का धारक तत्त्व है। इसके बिना विश्वास, एकता, अखण्डता की परिकल्पना नहीं की जा सकती। समाज में भ्रष्टाचार सत्य मार्ग को छोड़कर असत्य मार्ग पर चलने के कारण है। समाज चार्वाक दर्शन की ओर अग्रसर है। अतः समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो रही है। वैदिक मूल्यों को अपनाकर ही इन पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है।

✦✦✦

---

1. ऋग्वेद 7.56.12
2. अथर्ववेद 18.1.29
3. अथर्ववेद 17.1.16
4. अथर्ववेद 4.36.1

मानव : शाकाहारी या मांसाहारी : वैज्ञानिक दृष्टिकोण

–डॉ. नागेन्द्र कुमार नीरज

चीफ मेडिकल इन्चार्ज

प्रा.यो.चि. एवं पंचकर्म अनु. केन्द्र,

योगग्राम, पतंजलि योगपीठ (हरिद्वार)

भारतवर्ष एक निर्धन देश है फिर भी यहाँ के लोग विकसित देशों की अपेक्षा, कैंसर, उच्च रक्तचाप, यकृत व गुर्दों सम्बन्धी रोग, गठिया, संधिवात, बवासीर, कोष्ठबद्धता तथा हृदयरोग से काफी बचे हुए थे। इसका एक बहुत बड़ा कारण शाकाहार ही था। वर्तमान में जीवन–शैली में आये परिवर्तन के कारण किशोर एवं युवा वर्ग में फास्टफूड के नाम पर अभक्ष्य मांसाहार एवं अन्य परिशोधित आहारों का प्रयोग बढ़ने से उपरोक्त रोगों में काफी वृद्धि हुई है जबकि विदेशी लोग मांसाहार त्यागकर शाकाहार अपना रहे हैं। एक ताजा सर्वेक्षण के अनुसार ब्रिटेन में प्रति सप्ताह लगभग पाँच हजार लोग शाकाहार अपना रहे हैं। अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन में शाकाहार एक शाक्तिशाली आन्दोलन के रूप में प्रकट हो रहा है। भारत के अधिकांश लोग धार्मिक भावनाओं के कारण माँसाहार लेना पाप समझते हैं। माँसाहार पाप है या पुण्य, इस दार्शनिक, नैतिक व धार्मिक तर्कवितर्क में न पड़कर हम यहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से चर्चा करें कि माँसाहार मन व शरीर–क्रिया–विज्ञान के अनुकूल है या नहीं। ***अब तक हुए वैज्ञानिक अध्ययनों से यह बात स्पष्ट हो गई है कि मांसाहार मानव मन एवं शरीर की संरचना व क्रियाविज्ञान के अनुकूल नहीं है।*** इसके पीछे निम्न वैज्ञानिक मान्यताएँ हैं–

1. माँसाहारी पशुओं के नाखून तथा दाँत शिकार पकड़ने लायक होते हैं। मनुष्य या अन्य शाकाहारी जन्तुओं के वैसे नहीं होते।

2. मनुष्य तथा अन्य सभी शाकाहारियों का जबड़ा भोजन को अच्छी तरह चबाने के लिए ऊपर–नीचे, दायें–बायें चारों तरफ घूम सकता है। माँसाहारी पशुओं का जबड़ा माँस के छोटे–छोटे टुकड़े कर उदरस्थ करने के लिए सिर्फ ऊपर–नीचे ही चलाता है।

3. हिंसक जानवर अपने शिकार को मारकर उल्लास से भर जाते हैं तथा वे उसे कच्चा ही खाते हैं।

4. जानवरों को मारते समय कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसके हृदय में दया व करुणा का भाव न उमड़े। यदि नहीं उमड़े तो ऐसे मनुष्य हिंसक जानवरों की चेतना के तल पर जीते हैं, ऐसा मानना चाहिए क्योंकि हिंसक पशुओं में ऐसा भाव नहीं उमड़ता। यदि मारकर कच्चा ही माँस खाना पड़े तो अनेक लोग माँस छोड़ सकते हैं।

5. शाकाहारियों का पाचन मुँह से शुरू होता है जबकि माँसाहारियों का आमाशय से शुरू होता है।

6. शाकाहारियों की लार में क्षारीय एन्जाइम टाइलिन सलाइवा एमाइलेस होता है जो स्टार्च को पचाता है। मांसाहारी जानवरों की लार अम्लीय होती है और प्रोटीन को पचाती है।

7. मांसाहारी जानवर माँस के साथ-साथ हड्डियाँ भी खाते हैं परन्तु मनुष्य उन्हें चबा व पचा नहीं सकता।

8. मांसाहारी जानवरों का आमाशय हड्डियों तथा माँस को पचाने के लिए काफी बड़ा होता है तथा अम्लीय पाचक रस काफी मात्रा में निकालता है जबकि शाकाहारियों का आमाशय आँतों की अपेक्षा काफी छोटा होता है। *लम्बी आँतें सिद्ध करती हैं कि मनुष्य शाकाहारी है।*

9. मांसाहारी जानवर अल्पजीवी होते हैं जबकि शाकाहारी घोड़ा, हाथी, आदमी आदि दीर्घजीवी होते हैं। प्रयोगों से सिद्ध हो गया है कि दक्षिणी अमेरिका के इक्वाडोर देश की विलकाबाम्बा घाटी के निवासी शाकाहारी होने के कारण दीर्घजीवी हैं। हंगरी, जापान, जर्मनी, रूस के दीर्घजीवी लोगों का आहार प्रायः शाकाहार है।

10. शाकाहारी तथा माँसाहारी प्राणियों की आँखें एवं चेहरे के भावों में काफी भिन्नता होती है।

11. शाकाहारी जानवर हाथी, घोड़ा, गाय इत्यादि सिर्फ शाकाहार ग्रहण करते हैं। भूखवश माँस खा भी लें तो वे विक्षिप्त एवं बीमार हो जाते हैं। मनुष्य भी शाकाहारी है अतः माँस उसके शरीर एवं विकसित चेतना के अनुकूल नहीं है।

12. यह भ्रम है कि माँस शक्ति एवं ऊर्जा का स्रोत है। शक्ति की माप अश्वशक्ति (Horse Power) है और अश्व शाकाहारी है। शाक्तिशाली जानवर हाथी, गेंडा, घोड़ा शाकाहारी होते हैं। विश्व के प्रबुद्ध विख्यात दार्शनिक एवं वैज्ञानिक भी प्रायः शाकाहारी हुए हैं। आईन्स्टीन शाकाहार के प्रबल समर्थक थे। जॉर्ज बर्नार्ड

शॉ कहा करते थे कि पेट कब्रिस्तान नहीं है कि वहाँ मुर्दे (माँस) को दफनाया जाये। भगवान् महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण व पूज्य बापू परम अहिंसक थे।

13. शाकाहारी प्राणी एक समय में एक ही बच्चा (कुछ अपवाद को छोड़कर) पैदा करते हैं, जबकि कई माँसाहारी जानवर एक साथ दो, दस या सौ से अधिक बच्चे पैदा करते हैं। इस दृष्टि से भी मनुष्य शाकाहारी है।

14. शाकाहारियों को माँस जैसा परिशुद्ध प्रोटीन पचा पाना अशक्य होता है। माँस का प्रोटीन 98 से 100 प्रतिशत तक पच तो जाता है साथ ही मांस का न्यूक्लियो प्रोटीन रक्त में यूरिया, यूरिक अम्ल, क्रिटिनिन आदि विषैले रसायन प्रचुरता से निर्मित करता है जिससे गठिया, गुर्दे की खराबी, गॉलस्टोन आदि रोग होते हैं। इन जहरों का सर्वाधिक घातक प्रभाव गुर्दों पर होता है।

15. मांस प्रबल अम्लीय आहार होने के कारण उसमें सात्मीकरण के लिए प्रबल अम्लीय माध्यम ही चाहिए और वह क्षारीय माध्यम के कारण मनुष्य के अनुकूल नहीं पड़ता। हाल ही हार्वर्ड मेडिकल स्कूल के डॉ. ए. वाचमैन, डॉ. डी. एस. वर्न्सस्टीन ने बरसों तक खोज के बाद पता लगया है कि फॉस्फेट भण्डारण का कार्य अस्थियाँ करती हैं। फॉस्फेट रासायनिक ऊर्जा प्रदान करता है। शरीर की प्रतिरोधन व्यवस्था पी.एच. को सामान्य रखता है। माँसाहारियों का पेशाब प्रायः अम्लीय होता है क्योंकि माँस से अम्लता बढ़ती है फलतः शरीर के पी.एच. को उदासीन रखने के लिए हड्डियों के क्षारीय लवण घुलने लगते हैं। 30 साल के बाद माँसाहारियों की अस्थियों का क्षरण होने लगता है और अस्थियाँ कमजोर हो जाती हैं। ब्रिटिश मेडिकल जर्नल में प्रकाशित एक अध्ययन के अनुसार सीखों पर भूना, ग्रिल या फ्राइ करने से मांसाहार में प्रबल कैंसरकारी तत्व 'हेट्रोसाइक्लिक एमिन्स' पैदा होते हैं जिससे आँतों का कैंसर होने का खतरा बढ़ जाता है। अमेरिकन जर्नल एपिडेमियोलॉजी में यूनिवर्सिटी ऑफ मेलबॉर्न आस्ट्रेलिया के वैज्ञानिकों का शोध अध्ययन प्रकाशित हुआ है जिसके अनुसार जो उम्रदराज लोग अपने भोजन का दस प्रतिशत भी अधिक लाल मांस खाते हैं उनमें आधे से ज्यादा लोग अंधापन का शिकार हो जाते हैं। रेटिना क्षतिग्रस्त होने लगता है। रेटिना का सर्वाधिक संवेदनशील पित्त बिन्दु तथा केन्द्रीय अंग होता है। मैक्युला आँखों के पीछे स्थित रेटिना के पित्तबिन्दु मैक्युला में कोन्स कोशिकाएँ सर्वाधिक होती हैं, जिसके चलते किसी भी दृश्य को परिपूर्णता से देखा जाता है, लाल मांस इसे ही क्षतिग्रस्त करके ए.एम.डी. पैदा करता है। लाल मांस को खाने से दिल का दौरा तथा यकृत क्षतिग्रस्त होता है।

16. मांसाहार, मानव शरीर के अनुकूल नहीं है क्योंकि इसकी संतृप्त-वसा रक्त में एल.डी.एल. तथा सिरम कोलेस्टेरॉल तथा ट्राइग्लिसराइड्स लिपिड्स बढ़ाती

है जिससे हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, थ्रोम्बोसिस, लकवा, गॉलस्टोन, गुर्दे की पथरी आदि रोग होते हैं। ये रक्तवाहिनियों को सँकरी तथा रक्त को गाढ़ा बना देते हैं। सभी प्रकार के शाकाहार (नारियल को छोड़कर) में असंतृप्त वसा मिलती है जो मानव शरीर के अनुकूल है। इससे कोलेस्टेरॉल इत्यादि नियंत्रण में रहते हैं। माँसाहार गुर्दे एवं यकृत को क्षतिग्रस्त कर तत्सम्बन्धित अनेक रोग पैदा करता है।

17. अण्डा शाकाहार है या माँसाहार, इस चर्चा में न पड़कर हम जानें कि अण्डा अण्डा है तथा हानिकारक है। अण्डे के सफेद वाले भाग में 'एविडिन' नामक हानिकारक तत्त्व होता है। यह बायोटिन विटामिन को नष्ट करता है। डॉ. जे. लिज, एच.टी. पार्सन्स, तथा ई. केली के अनुसंधानपरक निष्कर्षों के अनुसार 'एविडिन' तत्त्व शरीर में प्रोटीन की कमी कर अपने दुष्प्रभाव से बालों का झड़ना, गंजापन, त्वचा विक्षोभ, चर्मरोग, आँख, मुँह व कान के रोग पैदा करता है। जॉर्जिया स्कूल ऑफ मेडिसिन विश्वविद्यालय के वी.पी. सिडेन स्ट्रीकर, ए.पी. बिग्म तथा एन.एम. डे बाउग्न ने अण्डे के सफेद वाले भाग को 'Egg White Injury' नाम दिया है। उन्होंने अण्डे के प्रभाव का अध्ययन करने पर पाया कि यह अवसाद, हृदय पर दबाव, चेतना शून्यता, मनाहट, मितली, भारीपन, थकान, त्रास, आंतक, भय की स्थिति उत्पन्न करता है। उससे रक्त में हीमोग्लोबिन की कमी, ई.सी.जी. में हृदय की असमानता, लाल रक्त- कोशिकाओं की कमी, रक्तहीनता, रक्त कोलेस्टेरॉल की अत्यधिक वृद्धि आदि असामान्य स्थिति पाई गई है। बाद में उन्हें बायोटिन देकर ठीक किया गया है। विसकॉन्सिन विश्वविद्यालय के तीन शोधकर्ताओं ने चूहों पर प्रयोग कर देखा कि अण्डे खाने से यकृत कैन्सर होने की संभावना प्रबलता से बढ़ती है। अण्डे को उबालकर ब्रेवर यीस्ट के साथ खाने से उपर्युक्त रोग होने की संभावना कम हो जाती है। कृषि विभाग फ्लोरिडा द्वारा 18 माह तक तथा अन्य संस्थानों द्वारा किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि 30 प्रतिशत अण्डों में डी.डी.टी. नामक घातक रसायन होता है।

18. डॉ. रॉबर्ट ग्राम, प्रो. इरविंग डेविडसन, डॉ. ई.वी. मैक्कालम, डॉ. आर. जे. विलियम्स ने अपने विभिन्न पृथक्-पृथक् शोध कार्यों से यह सिद्ध किया है कि एक अण्डे में 4 ग्रेन कोलेस्टेरॉल होता है और इतनी मात्रा पित्ताशय की पथरी, गुर्दे एवं यकृत के रोग तथा हृदयरोग पैदा करने के लिए पर्याप्त है। मुर्गी के अण्डे में टी.बी., पेचिश आदि के कीटाणु पाये गये हैं। अण्डे में कार्बोज तथा कैल्शियम बहुत ही कम होता है फलतः इसे खाने से पेट में सड़ान पैदा होकर अनेक प्रकार के पैथोजैनिक कीटाणु पैदा होते हैं। अण्डे में नाइट्रोजन, फॉस्फोरिक अम्ल तथा चर्बी अधिक होने से शरीर में एसिडोसिस की स्थिति पैदा होती है। एविडिन घातक रसायन है, जिससे एक्जीमा, लकवा तथा अन्य त्वचा रोग पैदा होते हैं।

19. हाल ही में जर्मन कैंसर रिसर्च सेन्टर हिडलवर्ग के डॉ. रैनर फेन्ट्जेल बेडइ तथा उनके सहयोगियों ने 1904 लोगों पर 5 वर्षो तक शोध प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला है कि जो लोग माँसाहार करते हैं उनमें जन्तुज प्रोटीन तथा वसा से आमाशय एवं यकृत का कैंसर, कोरोनरी थ्रोम्बोसिस, कोलेस्टेरॉल की वृद्धि, मोटापा आदि अनेक जानलेवा रोग होते हैं। शाकाहारियों के भोजन में उपस्थित एण्टी ऑक्सीडेन्ट पॉली अनसेचुरेटेड वसाम्ल, उच्च रेशायुक्त वनस्पति प्रोटीन तथा वसा, कैंसर, विभिन्न हृदय रोग, थ्रोम्बोसिस, उच्च रक्तचाप तथा सर्कुलेटरी रोगों से हमारी रक्षा करता है। शाकाहारियों का रक्तचाप, कोलेस्टेरॉल तथा वजन नियंत्रित रहता है। जो लोग धूम्रपान तथा शराब नहीं पीते हैं तथा शाकाहारी हैं उनमें से अधिकांशत: जीवनपर्यन्त हृदय रोग, कैंसर, कोलेस्टेरॉल, मोटापा आदि से बचे रहते हैं। डॉ. बेइम के अनुसार शाकाहारी भोजन मस्तिष्क तथा स्नायविक (Brain & Nerve) कैंसर से हमारी रक्षा करता है। अमेरिका के डॉ. आर. एल. फिलिप्स तथा यूनिवर्सिटी ऑफ वेस्टर्न आस्ट्रेलिया पर्थ के डॉ. इआन एल. राउस की खोजों के अनुसार शाकाहार रक्तचाप, हृदय तथा रक्त संचार के रोगों को नियंत्रित रखता है। डॉ. राउस के अनुसार यह किस प्रकार प्रभाव डालता है, यह अभी अज्ञात है और शोध जारी है।

20. माँस में रफेज नहीं होने से वह शाकाहारियों के अनुकूल नहीं है फलत: यह आँतों में पड़ा-पड़ा सड़ता रहता है। इससे करोड़ों की संख्या में पैथोजेनिक कीटाणु पैदा होकर समस्त रक्त-प्रवाह को प्रदूषित करते हैं तथा कोशिकाओं को विक्षुब्ध करते हैं। प्रयोगों से देखा गया है कि माँसाहार से अतिसार, बवासीर, हर्निया, अपेण्डिसाइटिस, गर्भाशय, डिम्ब ग्रंथि, अग्नाशय तथा आँतों का कैंसर उत्पन्न होते हैं।

21. हाल ही में कैंसर एवं आहार के सम्बन्ध में विश्व का एक महानतम शोध-निष्कर्ष सामने आया है यह शोध कार्य जापान की राष्ट्रीय कैंसर संस्थान के निदेशक डॉ. ताकेशी हीरायामा के संचालन में हुआ है। उन्होंने यह शोध कार्य 1965 से प्रारम्भ कर 16 वर्ष तक चलाया। इसके दौरान उन्होंने एक लाख 22 हजार व्यक्तियों पर शोध किया। 16 वर्ष के दौरान 30 हजार लोगों की मृत्यु हो गई। इनमें आठ हजार लोग कैंसर से मरे। कैंसर से मरने वाले इन आठ हजार लोगों में माँसाहार, शराब तथा धूम्रपान करने वालों की संख्या 808 प्रति लाख थी। शाकाहारियों एवं दुर्व्यसनों से मुक्त लोगों की संख्या 324 प्रति लाख थी। हरी शाकसब्जियों तथा फलों के साथ माँसाहारी लोग शाकाहार की मेहरबानी से कैंसर की चपेट में आने से बचे रहे। सिर्फ माँसाहार के कारण लोग मुँह, ग्रासनली, आमाशय, फेफड़े, मूत्राशय तथा अन्य अंगों के कैंसर से पीड़ित हुए। डॉ. हीरायामा अपने शोध से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ताजी सब्जियों, पीले पत्तों तथा पीले गूदादार फलों में स्थित बीटा कैरोटिन, लाइकोपिन, एन्थोसाइनिन, जेन्थोफिल, ल्यूटेन, क्लोरोफिन आदि फाइटो

पिगमेन्ट एवं न्यूट्रिएन्ट विटामिन 'सी' रफेज आदि तत्त्व हमारे शरीर की प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था को सबल एवं सशक्त बनाते हैं, फलस्वरूप कैंसर रोग हावी नहीं हो पाता है। पालक, टमाटर, पत्तागोभी, कद्दू, पपीता, आम, अनन्नास, खूबानी, गेहूँ तथा पत्ते वाले साग, दूर्वा रस, गाजर, संतरा, मौसमी आदि कैंसर-अवरोधी आहार हैं। इनमें कैंसर-अवरोधी तत्त्व 'इंडोल' भी पाया जाता है।

ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी कैंसर रिसर्च यू.के. एपिडेमियोलॉजी यूनिट के डॉ. टिमके (Timkey) तथा उनके सहयोगी 61,000 लोगों पर 12 साल तक सतत् शोध के बाद इस नतीजे पर पहुँचे है कि जो लोग शाकाहारी हैं उनमें माँसाहारियों की अपेक्षा 45 फीसदी रक्त (ल्यूकेमिया) मल्टीपल मायोलोमा होने की संभावना कम हो जाती है। अन्य अंगों का कैंसर 12 प्रतिशत तक कम होता है। लाल माँस तथा परिशोधित माँस खाने से आमाशय तथा मूत्राशय कैंसर होने की संभावना सर्वाधिक होती है।

जानवरों का माँस खाने के लिए उन जानवरों के संतति सम्वर्द्धन, पालन तथा पोषण में पृथ्वी की काफी हरियाली, पेड़-पौधे काम में आते हैं। ***जहाँ के लोग गाय, भैंस, सुअर आदि बड़े-बड़े जानवर खाते हैं, वहाँ ग्लोबल वार्मिंग का खतरा ज्यादा है। ग्लोबल वार्मिंग के चलते विश्व के अनेक देश भूकंप, बाढ़, सुनामी, बर्फबारी आदि से ग्रस्त हैं।*** माँस को पकाने में सब्जियों की अपेक्षा 6 गुना अधिक ऊर्जा खर्च होती है जिससे ग्रीन हाऊस गैस कार्बनडाई- ऑक्साइड, मिथेन आदि गैसें ज्यादा उत्सर्जित होती हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता तथा क्लाइमेट चेन्ज पैनल के अध्यक्ष आर के पचौरी के अनुसार माँस उत्पादन में ग्रीन हाऊस गैसों का सर्वाधिक इस्तेमाल होता है। खाद्य एवं कृषि संगठन के अनुसार माँसाहार के चलते मिथेन गैस का ग्रीन हाऊस गैसों में 18 फीसदी का योगदान है जबकि ट्रान्सपोर्ट का ग्रीन हाऊस गैसों में योगदान 13 फीसदी है। मात्र आधा किलो माँस पकाने में उतनी ग्रीन हाऊस गैस खर्च होती है जितनी एक एसयूवी गाड़ी को 64 किमी चलाने में। हमारे वातावरण में गर्मी को रोकने में मिथेन गैस कार्बन डाईऑक्साइड से 20 गुना तथा नाइट्रस ऑक्साइड इसके मुकाबले 300 गुना ज्यादा प्रभावी होती है। इनके उत्पादन में माँसाहार का योगदान 65 फीसदी है। एक अध्ययन के अनुसार 1970 से 2002 के मध्य विकासशील देशों में सालाना प्रति व्यक्ति माँस की खपत 11 किग्रा. से बढ़कर 20 किग्रा. हो गई है जबकि विकसित देशों में 65 से बढ़कर 80 किग्रा. हो गई है। माँस को बनाते समय कैंसरकारी कम्पाउण्ड एचसीए बनता है, रोजमेरी खाने से माँसाहार से उत्पन्न कैंसर की रोकथाम होती है।

एक अन्य अध्ययन के अनुसार पौधे अपने जड़ों से पानी में घुली मिथेन को

ग्रहण करते हैं तथा अपनी पत्तियों से उत्सर्जित करते हैं लेकिन इसे खुद नहीं बनाते हैं। डॉ. एलेन जिसबेट के अनुसार पेड़ पौधे तथा जंगल पर्यावरण सुरक्षा तथा ग्लोबल वार्मिंग से बचने के लिए बेहद आवश्यक हैं। पौधे तो ग्रीन हाऊस गैस कार्बन डाइऑक्साइड रूपी गरल को पीकर हमें प्राणवायु प्रदान करते हैं।

यूनिवर्सिटी ऑफ एथेन्स मेडिकल स्कूल के असिस्टेन्ट प्रो. पैगोना लेजाऊ एम.डी. बड़ी उम्र के 180 बी.पी.एच. (Benign Prostatic Hyperplacia) से पीड़ित तथा 246 स्वस्थ पुरुषों की आहार शैली का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जो लोग माँस, मक्खन तथा मर्जारिन ज्यादा खाते हैं उनमें अपेक्षाकृत बी.पी.एच. होने की संभावना सर्वाधिक होती है।

स्वीडिश वैज्ञानिकों के अनुसार माँसाहार यानि ग्लूटेन वाला आहार करने से आटो इम्यून डिजीज जैसे र्‌यूमेटायड आर्थराइटिस, मोटापा, एसएलई (Systemic Lupus Erythematous), स्ट्रोक, हार्ट अटैक आदि अनेक रोग होने की संभावना बढ़ जाती है। ये रोग उग्र हो जाते हैं, किन्तु शाकाहार (Vegandiet) जैसे सूखे मेवे, सूर्यमुखी बीज, ताजे फल, ताजी हरी सब्जियों को खाने से कोलेस्टेरॉल कम होता है। आटो इम्यून की विध्वंस प्रक्रिया में सुधार होता है। जोड़ों में मौजूद ग्लाइकोस एमिनो ग्लाकेन्स (GAGS) फैक्टर को शाकाहार नियंत्रित करता है, जिससे तीव्र सूजन, दर्द आदि नियंत्रित होने लगते हैं।

वूमेन्स हॉस्पिटल तथा हार्वर्ड मेडिकल स्कूल ब्रिघ्रम के डॉ. लक जौसी (Dr. Luc Djousse) तथा डॉ. जे. माइकल गोजियानो (J. Michael Gaziano) ने सिद्ध किया है कि प्रति सप्ताह 7 से ज्यादा अंडे खाने से मृत्यु की संभावना 23 प्रतिशत बढ़ जाती है। मधुमेह के रोगियों के लिए एक अंडा खाना भी मौत को बुलाना है और यह मौत हार्ट अटैक तथा स्ट्रोक से होती है। 20 साल तक लगातार शोध अध्ययन के बाद उक्त निष्कर्ष पर पहुँचा गया है। वास्तव में अण्डे का पीला भाग कोलेस्टेरॉल ही होता है जो खून की नलियों को बन्द कर स्ट्रोक एवं हार्ट अटैक पैदा करता है, यह दुर्घटना 40 से 50 साल के मध्य में ज्यादा होती है।

22. लंदन के साउथबैक पॉलीटेक्निक के डॉ. जिल डेविस व सरे विश्वविद्यालय के प्रो. जान निकसॅन विश्व के माँसाहारियों, शाकाहारियों, दूध, पनीर आदि पशुजन्य चीजें न खाने वालों के ऊपर बरसों तक प्रयोग करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शाकाहारियों की तुलना में माँसाहारियों को बीमारियाँ ज्यादा होती हैं। इन आयुर्विज्ञानियों का कहना है कि ब्रिटेन की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा एक शाकाहारी पर जीवन भर 12,340 पौण्ड खर्च करती है जबकि माँसाहारियों पर यह खर्च बढ़कर पाँच गुना हो जाता है। इन आयुर्विज्ञानियों के अनुसार माँसाहारियों में कब्ज, अपेंडिसाइटिस, पथरी,

हृत्शूल, रक्तहीनता, बवासीर, वेरीकोसवेन्स तथा कैंसर के रोग ज्यादा होते हैं। शाकाहारियों में ये रोग कम होते हैं और यदि होते भी हैं तो बहुत बाद में होते हैं तथा जल्दी ही ठीक भी हो जाते हैं। माँसाहारियों में उपर्युक्त रोग मूलतः रफेज की कमी के कारण होते हैं। डॉ. एलन लॉग का मानना है कि भोजन में रफेज की प्रचुरता से उपर्युक्त रोग नहीं होते हैं।

23. ब्रिटेन की ही मेडिकल रिसर्च काउन्सिल के अधीन शोधरत संस्था साउथपैन विश्वविद्यालय के जानपदिक रोग-विशेषज्ञों का मानना है कि शाकाहारियों में अपेंडिसाइटिस नहीं होता है। रफेज की कमी के कारण माँसाहारियों में अपेंडिक्स शीघ्रता से संक्रमित होते हैं। डॉ. रोगर ने अपने विभिन्न प्रयोगों से देखा कि बूचर के माँस में छोटी आँत को क्षतिग्रस्त करने वाले अनेक प्रकार के कीटाणु एवं विषाणु होते हैं।

24. मांसाहार द्वारा अनेक प्रकार के रोगाणु हमारे शरीर में प्रवेश करते हैं। हाल ही इस क्षेत्र में हुए शोध कार्यों के अनुसार खाए जाने वाले जानवरों में कैंसर या ट्यूमर के संकेत अधिक मिले हैं। कभी-कभी गाय-बैलों के पेट या कन्धों पर गोलाकार गाँठें होती हैं, जिनमें अधिकांशतः कैंसर गाँठ होती हैं। इन जानवरों के मालिक पैसों के लालच में इन्हें काटकर माँस बेचते हैं। इस प्रकार के प्रदूषित माँस खाने वालों में भी कैंसर होने की संभावना बढ़ जाती है। डॉ. मूलर 265 माँसाहारियों पर सर्वेक्षणात्मक शोध कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि माँसाहार के 18 घन्टे बाद व्यक्ति में सर्वप्रथम कमजोरी, थकान, दस्त, वमन, खुश्की, मिचली, गले की सूजन व जलन, फिर 2-3 दिन पश्चात् मस्तिष्क की कोशिकाओं में ऑक्सीजन की कमी के कारण चक्कर आने (Vertigo) श्वास लेने में कठिनाई, त्वचा में रूखापन, आवाज में भर्राहट, पैर का लकवा, खुश्क त्वचा आदि रोग-लक्षण दिखते हैं।

25. एक प्रयोग से पाया गया है कि एक औन्स माँस में करीब तीस लाख से लेकर तीन करोड़ तक कीटाणु होते हैं। काफी देर तक पड़े माँस में रोगाणुओं की मात्रा बड़ी तीव्रता से बढ़ती है। एक अन्य प्रयोग में पाया गया है कि एक पाव गाय के माँस की चाय नौ कबूतरों को मार सकती है।

26. ***कच्चा माँस न तो व्यक्ति देखना पसन्द करता है ओर न सूँघना। क्या आप कच्चा माँस खा सकते हैं? माँस को आकर्षक बनाने और जागरूक चेतना को मूर्च्छित करने के लिए उसे तलना-भूनना पड़ता है तभी वह स्वाद के अनुकूल हो पाता है। जबकि विभिन्न नैसर्गिक रंग-बिरंगे शाकाहार, अंकुरित अन्न, सब्जियाँ तथा फलादि को देखकर मन में आनन्द, हर्ष, उत्साह एवं तृप्ति महसूस होती है।***

27. शाकाहारियों के नवजात शिशु को माँसाहार पर नहीं रखा जा सकता है। उसका प्रारम्भिक प्राकृतिक आहार दूध ही है। माँस खाने वाले शाकाहारी पशुओं तथा औरतों को दूध कम उतरता है। ***माँसाहारी माताओं के बच्चे ज्यादा उग्र प्रवृत्ति के होते हैं।***

28. प्राय: प्रयोगों से देखा गया है शाकाहारी जानवर जब माँस खाना प्रारम्भ करते हैं, वे शीघ्र ही जीर्ण एवं घातक रोगों के शिकार होकर मर जाते हैं। यही हाल मानव जाति में भी परिलक्षित होता है। विशेष रूप से मुस्लिम कौम या अन्य जाति जो माँसाहार करती है उनमें पित्ताशय की पथरी तथा कैंसर रोग ज्यादा पाये जाते हैं।

29. माँसाहारी जानवर शिकार को मारकर उसका रक्त बड़े चाव एवं आनन्द से पीता है, परन्तु क्या कोई मनुष्य ऐसा कर सकता है। कल्पना करें कि आपके मनभावन भोजनों पर रक्त छिड़क दिया जाये तो क्या कोई खाना पसन्द करेगा? यदि उत्तर हाँ आता है तो वह हिंसक जानवरों की कोटि में है।

30. मनुष्यों की दृष्टि तथा घ्राणेन्द्रिय आहार प्राप्ति हेतु पशुवध के लिए प्रेरणा नहीं देती है। क्या आप बकरा, गाय, हिरण आदि जनवरों की मासूमियत देखकर उसे खाने के लिए ललचा उठते हैं? ऐसा मानवता के विरुद्ध है। जबकि वृक्ष पर पके फल, अनाज की बालियाँ एवं शाक सब्जियों के नैसर्गिक रंग-रूप, गुण धर्म को देखकर सभी इन्द्रियाँ पाने एवं खाने के लिए ललक उठती है। 6-7 साल के सरल भोले भाले बालक के पास एक प्लेट में माँस तथा दूसरे में फल शाक आदि रखिए। देखिए, बालक किस प्लेट की ओर आकृष्ट होता है। माँस को देखकर वह डरता है तथा घृणा करता है, जबकि फलादि को तुरन्त लेकर खाने लगता है।

31. विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार 160 बीमारियाँ माँसाहार से फैलती हैं, जिनमें मिर्गी की बीमारी मुख्य है। सुअर के माँस में 'टिनिया सोलिहस' नामक भयंकर कीड़े पाये जाते हैं, जो मस्तिष्क के स्नायुओं को क्षतिग्रस्त करके मिर्गी तथा अन्य **कन्वल्सिव** रोग पैदा करते हैं। जापान, जर्मनी, रूस के अबकेशिया प्रान्त तथा अन्य देशों में किये गये सर्वेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि सौ तथा डेढ़ सौ वर्ष से ऊपर जीने वाले लोग प्राय: शाकाहारी होते हैं।

दी लांसेट मेडिकल जर्नल में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार गर्भावस्था में पर्याप्त मात्रा में मछली खाने से बच्चों का मानसिक एवं दिमागी स्वास्थ्य ज्यादा बेहतर होता है। समाज में घुलने मिलने, संवाद तथा बौद्धिक क्षमता का सर्वाधिक विकास होता है। यह सारा कमाल मछली में मौजूद ओमेगा 3 फैटी एसिड का होता है, किन्तु इसके लिए मछली की अपेक्षा अलसी तथा अखरोट खाना ज्यादा फायदेमन्द है। इससे स्मरण शक्ति ह्रास को रोका जा सकता है। बेक्ड या उबली हुई

मछलियाँ खाने से दिमाग का साइलेन्ट वाला हिस्सा (Silent Brain Lesion) प्रभावित होता है। यही स्मृति लोप, डिमेंशिया, स्ट्रोक तथा अल्झीमर्स आदि का मुख्य कारण है। यह सारा कमाल ओमेगा 3 फैटी एसिड के कारण होता है। मछलियों को खाने से अन्य अनेक खतरे हैं। औद्योगिक कपड़ों, डेन्टल फिलिंग्स, कॉस्मेटिक फ्लूरोसेंट तथा गोल्ड रिफाइनिंग में पारा (Mercury) का उपयोग होता है, इनसे भी मरकरी हवा, मिट्टी तथा जल द्वारा पानी में पहुँचता है, इसके अतिरिक्त समुद्र की सतह पर तैरने वाले शैवाल की मृत कोशिकाएँ सड़कर मरकरी पैदा करती है। ये सभी मरकरी समयोपरान्त मिथाइल मरकरी में बदल जाते हैं। मछलियों तथा शेलफिश का शरीर प्रकृति ने ऐसा बनाया है कि उनमें काफी मात्रा में मिथाइल मरकरी जमा हो जाता है। समुद्र की बड़ी मछलियाँ शार्क, किंग मैकरेल, स्वार्ड फिश आदि मिथाइल मरकरी वाली मछलियों को खाती हैं। इस प्रकार इन बड़ी मछलियों में मरकरी की मात्रा दस गुना और ज्यादा बढ़ जाती है। इन मछलियों को खाने वालों के शरीर में मरकरी काफी मात्रा में पहुँच जाता है। पाचन संस्थान से रक्त प्रवाह द्वारा दिमाग में पहुँचकर सुन्नपन, झुनझुनी, जलने, कीड़े रेंगने, चुभने आदि पेरेस्थीनिया के लक्षण पैदा होते हैं। न्यूरोलॉजिकल रोग पार्किन्सन, बोलने में कठिनाई, दृष्टि दोष, धुंधलापन, सुनने में गड़बड़ी तथा अंधापन आदि के लक्षण भी दिखते हैं। अमेरिका की सेन्टर्स फॉर डिजीस कन्ट्रोल एण्ड प्रिवेंशन (सी.डी.सी.पी.) के अध्ययन के अनुसार गर्भवती स्तनपान कराने वाली माताएँ 6 साल से कम उम्र के बच्चे, कमजोर, किडनी तथा धात्विक एलर्जी वालों के लिए मरकरी का अधिक स्तर सर्वाधिक खतरनाक होता है। मिथाइल मरकरी गर्भस्थ महिलाओं में प्लासेन्टा पार करके गर्भस्थ शिशु में जज्ब होने लगता है। ऐसे बच्चे बाद में चलकर आई–क्यू, बुद्धिमता (स्किल), स्मरणशक्ति, मेधा, बुद्धि तथा धृति शक्ति की कमजोरी, ध्यान एवं एकाग्रता की कमी के चलते एडीएचडी से ग्रस्त हो सकते हैं। अपराध मनोवृत्ति का विकास हो सकता है। बड़ों में कार्डियोवस्कुलर रोग, ऑटो इम्यून डिजीज तथा न्यूरोलॉजिकल रोग हो सकता है। शरीर में जाकर पचास फीसदी मिथाइल मरकरी मेटाबॉलाइज हो जाता है किन्तु बाकी प्रोटीन के साथ शाक्तिशाली बन्ध बना लेते हैं फलस्वरूप बाकी बचे पचास दिन तक शरीर में बने रहते हैं तथा अपन विध्वंसक प्रभाव शरीर पर डालते रहते हैं।

अमेरिका की एफ.डी.ए. तथा ई.पी.ए. (Environmental Protection Agency) के अनुसार पाली हुई कैटफिश, फ्लाउंडर, ट्राऊट, किंग क्रैब, स्कालॉप्स, फिश स्टिक्स, सामन, तिलपिया, सार्डिन्स में कम मात्रा में मिथाइल मरकरी पाया जाता है जबकि कैण्ड लॉकट, टूना, सीबॉस, माहीमाही, क्रैब, पाइप, लार्ज माउथबॉस, ब्ल्यू मसेल, कॉड, पोलाव, चैनल कैटफिश, इस्टर्न ओएस्टर, कॉस्ट ओएस्टर, मारलिन,

हैलीबट, हेडॉग, गल्फ कोस्ट ब्लू, ग्रेट लेक सामन, व्हाइट क्रोकर, वाल आइ, लेक व्हाइट फिश आदि मछलियों में काफी मात्रा में मरकरी पाया जाता है। मछली खाने वाले सावधान रहें। प्रायः माँसाहारियों को यकृत न खाने की सिफारिश की जाती है। हर प्राणी का यकृत जहरीले तत्वों को छानने का काम करता है। यकृत में काफी जहरीले तत्व होते हैं। अमेरिकी एफ.डी.ए. ने चेतावनी दी है कि झींगा मछली का यकृत (टॉमेली) नहीं खायें। कुछ प्रजातियों की हरे रंग वाला टॉमेली खाने के दो घंटे के बाद मुँह, चेहरे में सुन्नता, माँसपेशियों में कमजोरी, सिरदर्द, मितली आदि लक्षण दिखते हैं। टॉमेली में पैरालाइटिक शैलफिश पाइजनिंग (पी.एस.पी.) पाया जाता है जो श्वसन तंत्र को अक्षम कर मौत ला सकता है। दूसरी तरफ आएस्टर तथा क्लेम जैसी शैलफिश (सीपियों) में एस्पार्टिक एसिड तथा एन मेथिल डी एस्पार्टेट (एनएसडीए) जैसे कम्पाउण्ड होते हैं जो एस्ट्रोजन तथा टेस्टोस्टेरॉन के निर्माण को उत्तेजित कर काम शक्ति को बढ़ाते हैं।

32. अमेरिका के सुप्रसिद्ध आयुर्विज्ञानी डॉ. जोसफ ब्राउन तथा माइकल गोल्डस्टीन को 1985 का नोबेल पुरस्कार मिला। उनकी खोज भी इसी से सम्बन्धित है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार दिल के दौरे का प्रत्यक्ष कारण माँसाहार जैसे अधिक तथा संतृप्त वसा का प्रचुरता से प्रयोग करना है। इनकी खोज के अनुसार कुछ लोगों में कोलेस्टेरॉल रिसेप्टर्स पाये जाते हैं जो कोलेस्टेरॉल को पुनर्चक्रित कर देते हैं। कोलेस्टेरॉल को बढ़ने नहीं देते हैं।

33. ***पर्यावरण-संतुलन तथा मानवीय-विकास की दृष्टि से भी शाकाहार श्रेष्ठ है।*** मनुष्य ने अनेक पशु-पक्षियों को अपना आहार बनाकर उन्हें इस भूतल से सदा-सदा के लिए विदा कर दिया। उन पक्षियों के खत्म होने से अनेक वनस्पतियाँ भी समाप्त हो गई। पर्यावरण का संतुलन डगमगाने लगा है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण मॉरीशस का लुप्तप्राय पक्षी डोडो है। 300 वर्ष से यूरोपियों ने मॉरीशस पर अपना आधिपत्य जमाकर न उड़ने वाले पक्षी डोडो का इस प्रकार संहार शुरू किया कि वे सदा-सदा के लिए समाप्त हो गये, परन्तु अंग्रेजी साहित्य में एक कहावत अवश्य जुड़ गई "डैड एज डोडो"। इस डोडो के समाप्त होने से कैल्वेरिया मेजर नामक वृक्ष भी समाप्त हो गये क्योंकि डोडो इन्हीं वृक्षों के जंगलों में रहता था तथा उसके फलों को खाता था। डोडो के उदर में कुछ ऐसे अम्ल तथा पत्थर होते हैं जिससे इसके बीज की परत घिसकर पतली हो जाती थी और बीज विष्ठा के साथ बाहर आने पर अंकुरित हो जाता था। डोडो के समाप्त होने से बीजों का अंकुरण एवं प्रस्फुटन ही खत्म हो गया क्योंकि केल्वेरिया के बीजों पर बहुत ही सख्त छिलका होने से उसके अन्दर नमी नहीं प्रवेश कर पाती थी। नमी नहीं होने से अंकुरण एवं प्रस्फुटन भी नहीं हो सकता है।

34. ***जानवरों को मारते समय भय के कारण उनकी अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों से अनेक प्रकार के विषैले रसायन निकलते हैं जो खाने वाले व्यक्ति को दुष्प्रभावित करते हैं। जानवरों को मारते समय उस समय की हत्या, भय, विद्वेष, घृणा आदि की सूक्ष्म तरंगें मनुष्य की सूक्ष्म चेतना को प्रभावित कर उसे हिंसक, क्रूर, अत्याचारी बनने के लिए बाध्य करती हैं।***

35. आजकल की मछलियाँ भी प्रदूषित हो गई हैं। शहर के कल-कारखानों, गंदे नालों से बहे घातक रसायनों, रेडियो-सक्रिय तत्त्वों से मछलियाँ संक्रमित होती हैं। मछलियों के मुँहों, गलफड़ों तथा अन्य अन्दरूनी अवयवों की सूजन व गाँठें कैंसर को सूचित करती हैं। आम आदमी इस बात को समझ नहीं पाता है। हो सकता है वह मोटी गाँठें उसे और स्वादिष्ट लगें। इस प्रकार से संक्रमित मछलियों को खाने से कैंसर, यक्ष्मा आदि अनेक रोग हो सकते हैं। जब मुर्गियाँ अपने डैनों को लँगड़ाती हुई एवं घसीटती हुई चलती हैं। यह भी एक प्रकार का कैंसर है। मुर्गियों में इस प्रकार का प्रथम लक्षण दिखते ही मुर्गीपालक पैसे के लालच में इन्हें मारकर होटलों या ग्राहकों को बेच देते हैं। खाने वाला व्यक्ति इस तथ्य से अनजान होता है और वह अनजाने ही लाइलाज बीमारी से ग्रस्त हो जाता है।

36. आँतों में रहने वाले कृमि तथा सूक्ष्म रोगाणु व्यक्ति को काफी कमजोर बना देते हैं। इन कीड़ों के कारण आँतों तथा यकृत में सूजन आ जाती है और प्लीहा क्षतिग्रस्त हो जाती है। रक्तहीनता तथा अन्य जानलेवा बीमारियाँ हो जाती हैं। इन कृमियों में सांघातिक मुख्य कृमि हुकवर्म तथा फीता कृमि के संवाहक होते हैं माँस तथा मछलियाँ। इन कृमियों के अण्डे निकलते रहते हैं। मल खाने वाले सुअर, गाय, मछली, पक्षी तथा अन्य प्राणियों में कृमि के अण्डे जाकर अपना घर बना लेते हैं। वे उनकी आँतों में प्रजनन करते हैं फिर रक्तसंचार द्वारा जानवरों की माँसपेशियों में चले जाते हैं। इन जानवरों के माँस खाने वाले व्यक्ति इन जानलेवा कृमियों से ग्रस्त हो जाते हैं।

जानवरों के माँस में रहने वाले फीता कृमियों की लम्बाई 40 से 65 फीट तक पाई गयी है। माँस में न्यूमोनिया, टायफायड आदि के कीटाणु भी पाये गये हैं।

37. मांसाहार के सम्बन्ध में बड़े ही अवैज्ञानिक एवं मूर्खतापूर्ण तर्क व वक्तव्य दिये जाते हैं कि माँसाहार का प्रोटीन श्रेष्ठ किस्म का है और इस श्रेष्ठ प्रोटीन के अभाव में व्यक्ति का शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाताहै। परन्तु यह वक्तव्य निराधार है। शरीर, मन एवं चेतना के परम स्वास्थ्य के मालिक अनेक मूर्धन्य वैज्ञानिकों, साहित्यकारों व दार्शनिकों के जीवन का अध्ययन करने के बाद ज्ञात हुआ है कि वे जीवनपर्यन्त शाकाहारी थे। भगवान् महावीर, जिन्होंने अहिंसा

को परम धर्म माना है, के विषय में कहा जाता है कि उनके जैसा सुन्दर एवं स्वस्थ शरीर एवं मन कभी हुआ ही नहीं। उनके चित्र से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। भगवान् बुद्ध, पूज्य बापू, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, महर्षि रमण, अरविन्द, रजनीश, महेश योगी, स्वामी रामदेव, आचार्य बालकृष्ण, कबीर, शंकराचार्य, आचार्य तुलसी, तुलसीदास, महात्मा ईसा, स्वामी रामतीर्थ, वैज्ञानिकों में डॉ. हेनरी सी. शेरमन, जैक सी. डूमंड, सर हेनरी टामसन, डॉ. अलबर्ट श्वितजर, डॉ. तादाने, डॉ. कार्ल ऐंडर्स, डॉ. आटो रॉबिन्सन, डॉ. सी.वी. रमन, एम. विश्वेश्वरैया आदि हजारों नाम हैं जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में विश्व को दिशा-निर्देश दिया और वे सभी शाकाहारी थे और हैं। महान् वैज्ञानिक डॉ. अल्बर्ट आइन्स्टीन ने एक बार बड़े दु:ख के साथ कहा था ***"यद्यपि बाह्य परिस्थितियों ने मुझे शाकाहारी होने के पथ पर कुछ रोड़े अटका रखे हैं तो भी मैं शाकाहार का पूर्ण समर्थक हूँ.........मानव मनोभावों को शाकाहार भौतिक रूप से प्रभावित करता है। ....आने वाली मानव जाति के भविष्य में शाकाहार महत्त्वपूर्ण भूमिका आदा करेगा।"*** प्राकृतिक चिकित्सा के प्रवर्तकों में श्री लुइकूने, एडोल्फ जुस्ट, बर्नर मैकफेडन, लिंडल्हार आदि मांसाहार के सख्त खिलाफ थे।

38. माँस एव अण्डों का प्रोटीन श्रेष्ठ किस्म का होता है, यह एक बहुप्रचारित भ्रान्त धारणा है। यह विचार कब, कहाँ, कैसे तथा क्यों प्रचारित हुआ, इसका कोई तथ्यात्मक प्रमाण नहीं है। जो चिकित्सक एवं पोषण-विज्ञानी माँसाहार एवं अण्डों के पक्ष में दलील देते हैं, उनसे आप पूछिये कि प्रोटीन का ऐसा वैज्ञानिक वर्गीकरण किसने किया? उसका तथ्यात्मक उल्लेख कहाँ है? तो उनका एक ही जवाब होता है कि उन्होंने ऐसा सिर्फ सुन रखा है। सुनी-सुनाई बात ही पुस्तक में अंकित है। ***अभी तक किसी प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोग नहीं हुए हैं। माँस तथा अण्डों का प्रोटीन श्रेष्ठ किस्म का है तथा वनस्पतियों के प्राप्त प्रोटीन निम्न कोटि का है, यह मान्यता मात्र भ्रम है।*** मेडिकल कॉलेजों में सुप्रसिद्ध आयुर्वेज्ञानिक सैमसन राइट की किताब पढ़ाई जाती है और इस प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने उक्त पुस्तक में लिखा है कि प्रोटीन का उक्त विभाजन अवैज्ञानिक एवं अव्यावहारिक है। उन्होंने तर्क दिया है कि पशुओं की माँसपेशियाँ घास खाने से ही बनती हैं। अर्थात् उच्च स्तर का प्रोटीन घास से ही निर्मित होता है तो फिर मनुष्य के लिए वनस्पति-प्रोटीन निकृष्ट कैसे हो गया?

39. मांसाहार-प्रचार के पीछे पाश्चात्य देशों के आहारीय साम्राज्यवाद के विस्तार का या गरीब देशों के आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक शोषण का घिनौना षड्यन्त्र छिपा है। इस तथ्य का पर्दाफश 'डायट फार स्मॉल प्लेनेट्स' पुस्तक में

बखूबी किया गया है। लेखिका फ्राँसिस मूर लैप ने लिखा है कि प्रोटीन आवश्यक तत्त्व है लेकिन उसके लिए माँसाहार कोरी मूर्खता है। अमेरिकी जितना प्रोटीन मवेशियों को खिला देते हैं, उतने प्रोटीन से तो गरीब देशों के अभावग्रस्त लोगों की समस्या हल हो सकती है। उन्होंने आँकड़ा दिया है कि औसतन एक बछड़ा 16 पौण्ड अनाज खाकर एक पौण्ड मांस देता है और शेष 15 पौण्ड अनाज उसकी हड्डियों, बालों एवं अन्य शारीरिक विकास में खर्च हो जाता है। .....सिर्फ 1973 में अमेरिका के पशुओं ने जितना प्रोटीन खाया, वह विश्व की सम्पूर्ण आबादी की आवश्यकता से छह गुना था। माँस से उच्चतम किस्म का प्रोटीन मिलता है, इस भ्रम में गरीब एशियायी या अफ्रीकी देश आ चुके हैं। एक शोध-सर्वेक्षण के अनुसार एक हैक्टर जमीन से गन्ने के रूप में 153, आलुओं के रूप में 72, चावल के रूप में 42 किलो कैलोरी ऊर्जा मिलती है, परन्तु इतनी जमीन में उगने वाले अनाज को मवेशियों को खिलाकर दूध के रूप में 11, अंडे के रूप में 3.1 तथा माँस के रूप में मात्र 2.5 किलो कैलोरी ऊर्जा ही प्राप्त होती है। आज की सबसे बड़ी समस्या खाद्यान्न-समस्या है। जुलाई, 87 में विश्व की आबादी बढ़कर पाँच अरब से ऊपर हो गई है। पृथ्वी पर प्रति मिनट 150 शिशु जन्मते हैं। दस हजार वर्ष पूर्व संभवतः विश्व की आबादी कुल पचास लाख थी। ईसा के समय यह आबादी 20 से 30 करोड़, अठारहवीं शताब्दी के मध्य में एक अरब से ऊपर, 1930 तक दो अरब से अधिक, 1975 में चार अरब थी। किन्तु अब यह आबादी छह अरब से ऊपर पहुँच चुकी है। जनसंख्या की विस्फोटक वृद्धि गरीब देशों में ज्यादा हो रही है। एक आँकड़े के अनुसार 1985 में विकसित देशों की जनसंख्या 1.2 अरब तथा विकासशील देशों की 3.5 अरब थी। विकसित देशों में 1 प्रतिशत, विशेषतः यूरोप में सबसे कम 1/2 प्रतिशत से कम की दर से जनसंख्या बढ़ रही है। सबसे खतरनाक स्थिति 3% अफ्रीकी देशों की है। भारत में 2.4%, पाकिस्तान एवं बांग्लादेश में 3% जनसंख्या वृद्धि दर है। वर्तमान में भारत की जनसंख्या 1 अरब से अधिक है। सिर्फ उत्तरप्रदेश की जनसंख्या ही ब्रिटेन से दुगुनी है। जनसंख्या की ऐसी विस्फोटक स्थिति में जमीन तो बढ़ने से रही। अतः गरीब देशों के लिए अमृततुल्य अनाज को माँस प्राप्ति के लिए जनवरों को खिला देना मूर्खता ही है। इतना ही नहीं, अमेरिका जैसे कुछ देशों में तो अनाज का कृत्रिम अभाव पैदा करने के लिए उसे समुद्र में भी फिंकवा दिया जाता है, जबकि अफ्रीका एवं एशिया के गरीब देशों में अनाज के अभाव में दम तोड़ने के हादसे होते रहते हैं।

40. प्रोटीन की किस्म या गुणवत्ता उसमें स्थित एमिनो अम्ल तथा उसके अवचूषण एवं सात्मीकरण पर निर्भर करती है। जितना जल्दी जो प्रोटीन पचकर शरीर के काम आता है, वही ऊँची गुणवत्ता का प्रोटीन होता है। दूध, दही, सोयाबीन का

दही, मूँगफली, फल तथा अन्य गिरियों के प्रोटीन की पाचन व अवचूषण क्षमता माँस से भी अधिक होती है। लोगों की धारणा है कि शाकाहार से सभी आवश्यक एमिनो अम्ल, विटामिन बी-12 तथा अन्य कुछ खनिज लवणों की पूर्ति नहीं होती है तथा शाकाहार में सभी प्रकार के एमिनो अम्ल नहीं मिलते हैं। लेकिन विभिन्न प्रयोग एवं खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि अंकुरित अनाज में जैव-रसायन किण्वन एवं खमीरीकरण प्रक्रिया द्वारा उच्चतम किस्म का प्रोटीन, विटामिन बी-12 विटामिन 'सी', बी-1, बी-2, बी-3 एन्जाइम आदि पैदा हो जाते हैं। एन्जाइम बी-1, बी-2 इत्यादि पके माँस में होते ही नहीं हैं। अंकुरित अनाजों से दूध, चटनी आदि विविध स्वादिष्ट व्यंजन बनाकर खाया जा सकता है। सभी प्रकार की दालों व अनाजों को अंकुरित करके ताजी सब्जियों व फलों के साथ खाने से सभी प्रकार के एमिनो अम्ल की पूर्ति भी आसानी से हो जाती है। मांस-मछली में मात्र 20% प्रोटीन होता है जबकि दालों में 21 से 27% प्रोटीन मिलता है। किण्वन तथा खमीरीकरण प्रक्रिया द्वारा विविध आहारों-जैसे दही (सोयाबीन तथा जानवरों के दूध का), इडली, डोसा, ढोकला, तन्दूरी रोटी आदि की पोषकता बढ़ जाती है। उपर्युक्त खमीर उठी किण्व शाकाहारों में स्टार्च, कार्बोज, प्रोटीन, लोहा, कैल्शियम तथा विटामिन की गुणवत्ता बढ़ जाने से उनकी अवचूषण क्षमता भी बढ़ जाती है। किण्व एवं खमीरीकरण प्रक्रिया के दौरान अनेक एन्जाइम, विटामिन आदि बढ़ जाते हैं जो भोजन को पचाने एवं सात्मीकृत होने में सहयोगी हैं। दही में स्थित उपयोगी असंख्य सूक्ष्म जीवाणु आँतों के सामान्य स्वास्थ्य के लिए विटामिन 'बी' आदि पोषक तत्त्व संश्लेषित करते हैं। दही एक महान् प्रो बायोटिक्स है। मांसाहार के इतने उपयोगी पोषक तत्त्व किसी भी कीमत पर नहीं मिलते हैं। यही कारण है कि मांसाहारी प्रायः रुग्ण रहते हैं। सर्वेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि माँसाहारी अल्पायु होते हैं। जानवरों को लगाये गये एण्टीबायोटिक्स, कीटनाशी घातक औषधियाँ, कृत्रिम हार्मोन जैसे मुर्गी तथा गाय को सिलबेस्ट्रोल (एस्ट्रोजन) दिया जाता है ताकि गाय एवं मुर्गियों में माँस का सम्वर्द्धन होकर तगड़ी हो जायें बीमारी के कीटाणु, औद्योगिक शहरों के आसपास बहने वाले नदी-नालों की मछलियों में सीसा, कैडमियम, पारा तथा अन्य रेडियो-सक्रिय तत्त्व हमारे शरीर में जाकर असाध्य चर्मरोग, कैंसर आदि पैदा करते हैं। ***विश्व में सर्वाधिक भोजन-विषाक्तता की घटनाएँ मांसाहार एवं शराब के कारण होती हैं।*** माँस का प्रोटीन गुर्दों को भयंकर रूप से क्षतिग्रस्त करता है। मिशिगन विश्वविद्यालय के डॉ. एल.एच. न्यूबर्ग ने चूहों को माँस खिलाकर देखा कि उनके गुर्दे भयंकर रूप से क्षतिग्रस्त हो गय। सुप्रसिद्ध आहार विशेषज्ञ डॉ. फ्रेडरिक जे. स्टेर ने भी माना है कि प्रोटीन की दृष्टि से मांसाहार लेना अनुपयुक्त है।

41. ब्रिटिश आहारशास्त्री डॉ. एन.डब्ल्यू. पी.टी. बरसों तक शोध कर इस

निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शाक सब्जियों, गेहूँ एवं जौ घास के क्लोरोफिल में सभी प्रकार में आवश्यक एमिनो अम्ल प्रोटीन मिल जाते हैं। इन सारे वैज्ञानिक तथ्यों से यह साबित हो जाता है कि प्रोटीन की दृष्टि से मांसाहार करना अनेक रोगों को आमंत्रण देना है।

42. माँसाहार के घातक प्रभाव को देखते हुए विश्व में धीरे-धीरे जनचेतना जागृत हुई है। शाकाहार आन्दोलन अब अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया है। आपको जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि ब्रिटेन जैसे माँसाहारी देश में विगत तीन वर्षों के दौरान 1.9 करोड़ लोगों ने अर्थात् कुल जनसंख्या के तिहाई हिस्से ने माँसाहार छोड़ दिया है। जनसाधारण के आकर्षण के केन्द्र प्रिंस चार्ल्स, बीटल बैड के सदस्य पॉल मैकार्टनी तथा अभिनेत्री सारा माइल्स व हेल्लीमिल्स जैसे लोग माँसाहार छोड़कर शाकाहार अपना चुके हैं। इसका बहुत बड़ा कारण स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य है। विभिन्न आयुर्वेज्ञानिक शोधों के अनुसार स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा मानसिक तनाव से मुक्ति के लिए शाकाहार एक बेहतर उपाय है। इंग्लैंड के रेस्तराओं एवं शिक्षण संस्थाओं में शाकाहारी व्यंजन बढ़ रहे हैं। वहाँ के माँस-उत्पादक एवं विक्रेता अत्यधिक चिन्तित हैं। विगत दशाब्दियों में कैंसर, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप एवं गुर्दे के रोगों से मरने वालों की संख्या में माँसाहारियों का स्थान सर्वोच्च रहा है। अतः इन रोगों तथा मोटापा से मुक्ति के लिए सिर्फ ब्रिटेन ही नहीं, जर्मनी तथा अन्य माँसाहारी पाश्चात्य देशों में भी शाकाहार का प्रचलन बढ़ रहा है। पश्चिमी जर्मनी में हाल ही में हुए एक सर्वेक्षण व तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि वहाँ के शाकाहारी माँसाहारियों की अपेक्षा ज्यादा स्वस्थ हैं, उनका वजन, रक्तचाप तथा रक्त कोलेस्टेरॉल एवं वसा सामान्य रहता है। उनमें हृदय रोग का दौरा पड़ने की संभावना 70 प्रतिशत कम हो जाती है तथा वे कैंसर से भी कम पीड़ित होते हैं। माँसाहारियों में गुप्त रोग होने की संभावना अति प्रबल होती है। माँसाहारियों की तुलना में सामान्य कद वाले शाकाहारियों का औसत वजन 6 कि.ग्रा. तक कम पाया जाता है। आयुर्विज्ञानियों का मानना है कि रक्तचाप तथा रक्त में चर्बी की वृद्धि कई प्रकार के हृदय रोगों का कारण है और माँसाहारियों में ये दोनों असामान्य रूप से बढ़े हुए होते हैं। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे विभिन्न शोधों के आधार पर, आप भी शाकाहार अपनाइये और रोग-मुक्ति, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य का राज पाइये। अक्टूबर, 1987 में प्रकाशित अमेरिका में किया गया एक शोध-निष्कर्ष भी उपर्युक्त विचार की पुष्टि करता है।

✦✦✦

ऋग्वेद प्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी में प्रतिपादित वर्णमाला का तुलनात्मक अध्ययन

–डॉ. प्रदीप कुमार कौण्डल

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत
पण्डित सन्त राम राजकीय महाविद्यालय, बैजनाथ
जिला–कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)

संक्षेपिका–

भारतवर्ष में अनादिकाल से ही भाषा–चिन्तन, विश्लेषण एवं व्याकरणिक विवरण की एक सुदीर्घ तथा समृद्ध विचारधारा प्रवाहित होती रही है। यद्यपि आचार्य पाणिनि संस्कृत व्याकरण के सबसे बड़े प्रतिष्ठाता तथा नियामक हैं तथापि उनसे पूर्ववर्ती व्याकरणग्रन्थों, प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में ध्वनियों के स्वरूप आदि की विशेष रूप से चर्चा हुई है। इन ग्रन्थों में ध्वनिविज्ञान का प्रौढ़ चिन्तन एवं विश्लेषण दृष्टिगोचर होता है। आचार्य पाणिनि से पूर्व जिस वर्णमाला का उल्लेख मिलता है, उसमें स्वरों का पाठ अकारादिक्रम से तथा व्यंजनों का पाठ उच्चारण–स्थानों की दृष्टि से व्यवस्थित है। जबकि पाणिनि ने स्वाभिमत वर्णमाला का पाठ अपने शब्दशास्त्र में प्रवृत्ति हेतु एक विशिष्ट क्रम से किया है, जो प्रयत्न की समता पर आधारित है। प्रस्तुत शोध–पत्र में *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* तथा *अष्टाध्यायी* में उल्लिखित वर्णमाला का प्रातिशाख्य, पाणिनीय व्याकरण–परम्परा के आचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर दोनों ग्रन्थों में वर्णित वर्णमाला का उल्लेख करते हुए वर्णसंख्या, वर्णक्रम, वर्णोच्चरण तथा प्रयत्न की दृष्टि से अन्तर स्पष्ट करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में वर्णमाला के दो स्वरूप उपलब्ध होते हैं – 1) विष्णु-मित्रकृत 'वर्गद्वयवृत्ति' में उल्लिखित वर्णमाला, 2) संज्ञा–परिभाषा पटल में शौनक द्वारा उल्लिखित वर्णमाला।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के प्रारम्भ में प्रथम पटल से पूर्व ही विष्णुमित्र ने 'वर्गद्वय–

वृत्ति' में वर्णमाला का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह इस प्रकार है[1]–

(1)	अ ऋ इ उ ए ओ ऐ औ	=8
(2)	लृ	=1
(3)	आ ॠ ई ऊ	=4
(4)	क ख ग घ ङ	
(5)	च छ ज झ ञ	
(6)	ट ठ ड ढ ण	
(7)	त थ द ध न	
(8)	प फ ब भ म	=25
(9)	य र ल व	=4
(10)	ह श ष स	=4
(11)	अः ᳵ क ᳶ प अं	=4
	कुल योग	=50

इस वर्णमाला में अ, इ, उ, ए, ओ, ऐ, औ–ये स्वर वर्ण हैं। पद के आदि और अन्त में विद्यमान 'लृ' वर्ण स्वरों में नहीं गिना जाता। इससे ज्ञात होता है कि पद के मध्य में 'लृ' वर्ण की गणना स्वरों में होती है। आ, ॠ, ई, ऊ–ये स्वर वर्ण क्रमशः अ, ऋ, इ, उ के दीर्घरूप हैं। इसके पश्चात् उपरोक्त क्रम से वर्णों का परिगणन करते हुए अन्त में कहा गया है कि यही वर्णराशि तथा वर्णक्रम है। उपरोक्त वर्णमाला में ग्यारह श्रेणियां बनाई गई हैं, परन्तु इन श्रेणियों को कुछ भी नाम नहीं दिया गया है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के संज्ञा–परिभाषा पटल में शौनक ने वर्णमाला का स्वरूप तथा क्रम इस प्रकार निर्दिष्ट किया है[2]–

---

1. अकारर्कासावि उ ए ओ ऐ औ। पदाद्यन्तयोर्न लृकारः स्वरेषु। आकारादीन्दीर्घरूपान्द्वितीयान्ह्रस्वेषु। पंचस्वपि तानि सन्ति।।9।। कखै गघौ ङ। चछौ जझौ ञ। टठौ डढौ ण। तथौ दधौ न। पफौ बभौ म। यरलवाः। हशषसाः। अः ᳵ क ᳶ प अं। इति वर्णराशिः क्रमश्च।।10।। ऋग्वेद प्रातिशाख्य, विष्णुमित्रकृता 'वर्गद्वयवृत्ति'।
2. अष्टौ समानाक्षराण्यादितः (1) ततश्चत्वारि संध्यक्षराण्युत्तराणि (2) एते स्वराः (3) इपरो दीर्घवल्प्लुतः (4) अनुस्वारो व्यंजनं वा स्वरो वा (5) सर्वः शेषो व्यंजनान्येव (6) तेषामाद्या स्पर्शाः (7) पंच ते पंचवर्गाः (8) चतस्रोऽन्तस्थास्ततः (9) उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः (10) –ऋग्वेद प्रातिशाख्य, 1

1.	अ आ ऋ ॠ इ ई उ ऊ	=8 समानाक्षर
2.	ए ओ ऐ औ	=सन्ध्यक्षर
3.	ई ३	=1
4.	अं	=1 अनुस्वार
5.	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म	=25 स्पर्श
6.	य र ल व	=4 अन्तस्थ
7.	ह श ष स अः ᳲ क ᳲ प अं	=8 ऊष्म

कुल योग=50

इस वर्णमाला में वर्णो के पहले तीन विभाग किये गए : स्वर, उभयसाधारण तथा व्यंजन। उसके बाद कहा गया कि प्रारम्भिक आठ वर्ण समानाक्षर हैं। तत्पश्चात् चार सन्ध्यक्षर या सन्धि-स्वर हैं। इकार परे हो तो प्लुत स्वर दीर्घ के समान समझा जाता है। अनुस्वार स्वर भी है और व्यंजन भी। शेष सभी वर्ण व्यंजन हैं। उन व्यंजनों में भी प्रथम पच्चीस वर्ण स्पर्श है तथा शेष अस्पर्श हैं। ये स्पर्श वर्ण भी पांच-पांच ऊष्म वर्णो से युक्त होकर पांच-पांच वर्गों में विभक्त हैं। तदनन्तर चार वर्ण अन्तस्थ हैं और अन्तिम आठ वर्ण ऊष्म हैं। ये सब वर्ण संख्या में कुल 50 हैं, क्योंकि अनुस्वार स्वरों अथवा व्यंजनों में एक बार ही गिना गया है।

शौनक ने वर्णमाला में 50 वर्णो का निर्देश करने के उपरान्त प्रथम पटल में ही वर्णों के उच्चारण-स्थानों की चर्चा के अवसर पर लृ, कुं, खुं, गुं, घुं चार यम, हुं नासिक्य तथा ळ ळह का ही प्रसंगवश उल्लेख किया है।[1] अतः पूर्वोक्त 50 में लृ, कुं, खुं, गुं, घुं, हुं ळ तथा ळह - इन आठ वर्णों को मिला देने से शौनकाभिमत वर्णमाला में कुल अठावन (58) वर्ण हो जाते हैं।

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में ही स्वाभिमत वर्णमाला को प्रस्तुत किया है। इसी वर्णमाला को वर्णसमाम्नाय, अक्षरसमाम्नाय, प्रत्याहारसूत्र तथा माहेश्वरसूत्र भी कहा जाता है। इन सूत्रों में वर्णमाला का क्रम इस प्रकार है-

(1) अ इ उ ण्, (2) ऋ लृ क्, (3) ए ओ ङ्, (4) ऐ औ च्, (5) ह य व र ट्, (6) ल ण्, (7) ञ म ङ ण न म्, (8) झ भ ञ्, (9) घ ढ ध ष्, (10) ज ब ग ड द श्, (11) ख फ छ ठ थ च ट त व्, (12) क प य्, (13) श ष स र्, (14) ह ल्।

इन चौदह सूत्रों में अन्तिम हल् वर्ण इत्संज्ञक है। इन इत्संज्ञक वर्णों का

---

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य, 1/41, 1/48, 1/50, 1/52

प्रत्याहारों में ग्रहण नहीं किया है। इत्संज्ञक वर्णों का ग्रहण न करने पर पाणिनीय वर्णसमाम्नाय में नौ स्वर तथा चौंतीस व्यंजनों अर्थात् कुल तैंतालीस वर्णों का परिगणन हुआ है। इन वर्णों में प्रत्यके का क्रम तथा श्रेणीविभाग पूर्णतः वैज्ञानिक है। प्रथम चार सूत्रों में अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले सभी स्वरों तथा पांचवें सूत्र से लेकर चौदह तक हल् प्रत्याहार में सभी व्यंजन वर्णों को एक विशिष्ट क्रम से व्यवस्थित किया है। अब दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित वर्णध्वनियों में तुलनात्मक दृष्टि से अन्तर दर्शाने का विनम्र प्रयास किया जा रहा है।

वर्णसंख्या विषयक अन्तर :-

इन दोनों ग्रन्थों में सर्वप्रथम वर्णो की संख्या में अन्तर दिखाई देता है। विष्णु-मित्रोक्त वर्णमाला में 13 स्वर + 33 व्यंजन + 4 अयोगवाह = 50 वर्णों का परिगणन हुआ है। शौनक द्वारा प्रथम पटल में जिस वर्णमाला को प्रस्तुत किया गया है, उसमें भी वर्णो की संख्या 50 ही है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में प्रदत्त दोनों वर्णमालाओं की तुलना करने से पता चलता है कि दोनों में ही प्लुत स्वर, यम, अनुनासिक तथा दुस्पृष्ट को वर्णमाला में जगह नहीं दी गई है। परन्तु प्रथम पटल में ही वर्णो के उच्चारण-स्थानों की चर्चा के अवसर पर- लृ, कुं, खुं, गुं चार यम, हुं नासिक्य तथा ळ ळह - इन आठ वर्णों का भी उल्लेख किया गया है। अतः *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* के अनुसार वर्णों की संख्या अठावन (58) हो जाती है, जबकि आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 9 स्वर - 34 व्यंजनों को ही वर्णमाला में स्थान दिया है। इस संख्या विषयक वैभिन्य का मुख्य कारण *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* द्वारा स्वरों के दीर्घ भेदों तथा व्यंजनों में विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार ध्वनियों को वर्णमाला में स्थान दिया जाना है। इसके विपरीत पाणिनि ने स्वरों के ह्रस्व भेदों को ही वर्णमाला में गिनाकर उन्हीं से दीर्घ-प्लुत भेदों का ग्रहण कर लिया है। उन्होंने वर्णों के पाठ में व्यक्तिपक्ष की अपेक्षा जातिपक्ष को अधिमान दिया है। यहां यह भी विचारणीय है कि *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* में उल्लिखित दोनों वर्णमालाओं में ई3 को छोड़कर अन्य प्लुत स्वरों को नहीं गिनाया है। इस आधार पर यह कहा जात सकता है कि प्राति-शाख्य भी उन्हीं ध्वनियों को वर्णमाला में स्थान देना चाहता है, जो स्वतन्त्र वर्ण हैं। आचार्य पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, यम, नासिक्य, ळ तथा ळह आदि ध्वनियों की गणना स्वाभिप्रेत वर्णसमाम्नाय में नहीं की। यद्यपि उन्होंने अपनी अष्टाध्यायी में अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुनासिक ध्वनियों को स्वीकृति दी है तथा यथास्थान इनका उल्लेख भी किया है[1], तथापि

1. मोऽनुस्वारः (8/3/23) खरवसानयोर्विसर्जनीयः (8/3/15) कुप्वोॅकॅपौ च (8/3/37) अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा (8/3/2)-अष्टाध्यायी।

उनकी दृष्टि में ये ध्वनियां स्वतन्त्र तथा मौलिक न होकर अवान्तर ही हैं। अतएव उन्होंने इन ध्वनियों को वर्णमाला में स्थान नहीं दिया। आचार्य पाणिनि इनमें वर्णत्व नहीं मानते। अतः इन्हें वर्णमाला में नहीं रखा। पाणिनि ने आवश्यकतानुसार अष्टाध्यायी में इनका उल्लेख कर काम ले लिया, भाषा में इनके प्रयोग को भी अत्यधिक मात्रा में स्वीकार किया तथा लिपिचिह्न की सुविधा भी दे दी, परन्तु पराश्रित ध्वनियां होने के कारण वर्णमाला में रखना उचित नहीं समझा होगा। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा[1] में भी इन ध्वनियों को पराश्रित कहा गया है। आचार्य पाणिनि की दृष्टि में यम ध्वनियां भी पराश्रित एवं श्रुतियां मात्र हैं। यम का अर्थ होता है युगल (जुड़वा)। अतः पलिक्क्ंनी, चख्ख्ंनतुः, अग्ग्ंनः, घ्घ्ंनन्ति-आदि उदाहरणों के ककारादि जुड़वां हो जाते हैं। इनमें प्रथम वर्ण निरनुनासिक तथा द्वितीय सानुनासिक है, परन्तु आनुनासिक्य-मात्र की अधिकता वर्णान्तरत्वप्रयोजक नहीं हो सकती। दुस्पृष्ट ळ को भी पाणिनि ने संस्कृत में मान्यता नहीं दी है। उन्होंने कडार, पीडा, क्रीडा ऐसे प्रयोग किए हैं[2], कड़ार, पीड़ा, क्रीड़ा नहीं। सम्भवतः इसी बात को दृष्टि में रखते हुए आचार्य पाणिनि ने वर्णमाला में केवल उन्हीं वर्णों को गिनाना उचित समझा है, जो पूर्ण हैं, स्वतन्त्र हैं, मौलिक हैं तथा जिनका उच्चारण अन्य ध्वनियों की सहायता के विना सम्पन्न हो सकता है।

वर्णक्रम विषयक अन्तर :-

वर्णों के क्रम में भी दोनों ग्रन्थों में भिन्नता है। विष्णुमित्र ने स्वरों में सर्वप्रथम ह्रस्व स्वर, तदनन्तर सन्ध्यक्षर, लृ और अन्ततः दीर्घस्वर-यह क्रम रखा है तथा व्यंजनों में स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्मा और अयोगवाह के क्रम से वर्ण गिनाए हैं। शौनक ने स्वरों में पहले समानाक्षर, उसके पश्चात् सन्ध्यक्षर व्यवस्थित किए है और व्यंजनों में स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्म और अयोगवाह-यह क्रम बनाया है। पाणिनि ने स्वरों में पहले मूलस्वर, मिश्रस्वर तथा सन्ध्यक्षर-यह क्रम अपनाया है तथा व्यंजनों में अन्तःस्थ, स्पर्श तथा ऊष्म के क्रम से वर्णों को पढ़ा है। *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* ने अनुस्वार के विषय में कहा है कि यह ध्वनि स्वर भी है और व्यंजन भी और इसका पाठ दो बार एक स्वरों के बाद तथा दूसरा ऊष्मवर्णों के साथ किया है। अनुस्वार को ऊष्मों के साथ बिठाना वस्तुतः चिन्तनीय है। आचार्य पाणिनि ने अनुस्वार को वर्णमाला में जगह न देकर आवश्यकतानुसार अपने शास्त्र *अष्टाध्यायी* में यथास्थान उल्लेख किया है।

---

1. अनुस्वार विसर्गश्च ॅक ॅपौ चापि पराश्रयौ। पाणिनीय शिक्षा, श्लोक, 4
2. कडाराः कर्मधारये (2/2/38) भ्राजभासभाङ्कदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् (7/4/3) नित्यं क्रीडाजीविकयोः (2/2/17) -अष्टाध्यायी

इस वर्णक्रम को देखने से स्पष्ट है कि *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* में स्वरवर्णों का पाठ अकारादिक्रम से तथा व्यंजनों का पाठ कण्ठ्य-तालव्यादि उच्चारण-स्थानों की दृष्टि से व्यवस्थित किया गया है। इस प्रातिशाख्य के अनुसार स्थानक्रम है-कण्ठ, जिह्वामूल, तालु, मूर्धा, दन्तमूल तथा ओष्ठ। वर्गद्वयवृत्ति में सन्ध्यक्षरों को छोड़कर शेष समस्त वर्णों का पाठ उपर्युक्त स्थानपौर्वापर्य की दृष्टि से हुआ है। सन्ध्यक्षरों में उच्चारण-स्थान की दृष्टि से ए, ऐ, ओ, औ-यह सन्निवेश संगत था, क्योंकि पूर्ववर्ती दोनों ध्वनियां तालव्य हैं तथा उत्तरवर्ती दोनों ओष्ठ्य। लृकार यद्यपि जिह्वामूलीय ध्वनि है[1]। अतः इसका पाठ अपने समानस्थानीय स्वरवर्ण के साथ होना चाहिए था, तथापि अन्य स्वरों से इसका पार्थक्य बताने हेतु इसे अलग पंक्ति में बिठाया गया है और वहां पर कहा गया है कि पद के मध्य तथा अन्त में विद्यमान 'लृ' वर्ण स्वरों में नहीं गिना जाता। *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* में व्यंजनवर्णों को उपर्युक्त स्थानक्रम से ही विन्यस्त किया है।

पाणिनि ने प्रत्याहारसिद्धि हेतु वर्णों के स्थानपौर्वापर्य का अतिक्रमण करके प्रयत्न की दृष्टि से वर्णों का पाठ किया है। उन्होंने अपनी वर्णमाला में वर्णों का क्रम तथा श्रेणी विभाग भी पूर्णतः भाषा वैज्ञानिक ढंग से सजाकर प्रस्तुत किया है। प्रथम चार सूत्रों में अस्पृष्ट या विवृत आभ्यन्तर प्रयत्न वाले स्वरों को स्थान दिया है और उन्हें भी मूलस्वर, मिश्रस्वर तथा सन्धिस्वर क्रम से विन्यस्त किया है। पांचवे-छठे सूत्र में संकोच क्रम को अपनाते हुए स्वर ध्वनियों के पश्चात् ईषत्स्पृष्ट अन्तःस्थ ध्वनियों, तत्पश्चात् सातवें सूत्र से बाहरवें सूत्र तक स्पृष्ट प्रयत्न वाली स्पर्श ध्वनियों और तेहरवें चौदहवें सूत्र में ईषद्विवृत या विवृत प्रयत्न वाली ऊष्म ध्वनियों का पाठ किया है। स्पर्श ध्वनियों का पाठ (पंचम, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय तथा प्रथम) सर्वथा सव्यक्रम से हुआ है। लेकिन ग्यारहवें बाहरवें सूत्र में वर्गों के द्वितीय तथा प्रथम वर्णों के उपदेश के अवसर पर वर्गीय वर्णक्रम कुछ परिवर्तित कर दिया गया है। यहां पर वर्णों का पाठ-ख फ छ ठ थ च ट त व क प-के क्रम से हुआ है, जबकि पूर्ववर्ती वर्गीय वर्णक्रम के अनुसार यहां-छ फ ख ठ थ च प क ट त-यह वर्णक्रम अभीष्ट था। यह परिवर्तन छव् प्रत्याहार को दृष्टि में रखकर तथा "नश्छव्यप्रशान" (अष्टाध्यायी, 8.3.7) सूत्र की शास्त्र में प्रवृत्ति हेतु किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रत्याहारों (अट्, हश्, रल्, वल्, शल् तथा झल्) एवं शब्दों की सिद्धि के लिए अपरिहार्य होने के कारण व्यंजन ध्वनियों में 'ह' का द्विरूपदेश हुआ है। एक पांचवें सूत्र में अन्तःस्थों के साथ और दूसरा चौदहवें सूत्र में ऊष्मों के साथ।

---

1. ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः। ऋग्वेद प्रातिशाख्य, 1/41

वर्णोच्चारण विषयक अन्तर :-

ऋग्वेद प्रातिशाख्य ने वर्णों के नौ उच्चारण-स्थान माने हैं, जो इस प्रकार हैं- कण्ठ, उरस्, जिह्वामूल, तालु, मूर्द्धा, दन्तमूल, बर्स्व, ओष्ठ तथा नासिका। पाणिनीय व्याकरण में वर्णों के-कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका, कण्ठ-तालु, कण्ठ-ओष्ठ, दन्त-ओष्ठ तथा जिह्वामूल-ये दस उच्चारण-स्थान स्वीकार किए गए हैं। *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* के उरस् तथा 'बर्स्व'-इन दो उच्चारण-स्थानों का अष्टाध्यायी में उल्लेख नहीं है, जबकि अष्टाध्यायी के कण्ठ-तालु, कण्ठ-ओष्ठ तथा दन्त-ओष्ठ-इन तीन उच्चारण-स्थान *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* में अनुल्लिखित हैं।[1] अब दोनों ग्रन्थों में वर्णित उच्चारण-स्थानों के आधार पर वर्णों में उच्चारण विषयक अन्तर को दिखाने का प्रयास किया जा रहा है।

कण्ठ-

कण्ठ स्थान से उच्चरित ध्वनियों को कण्ठ्य कहा जाता हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में अ, आ, ह, अः - इन चार ध्वनियों का उच्चारण कण्ठ स्थान से माना गया है, जबकि पाणिनीय व्याकरण में अ, आ, कवर्ग (क ख ग घ ङ) ह तथा विसर्जनीय को कण्ठ्य कहा गया है।[2]

उरस्-

उरस् या काकल स्थान से उच्चरित ध्वनियां उरस्य कहलाती हैं। *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* ने कुछ आचार्यों के मतानुसार ह तथा अः (विसर्जनीय) का उच्चारण-स्थान उरस् से मानकर इन ध्वनियों को उरस्य कहा है[3], लेकिन अष्टाध्यायी में उरस् उच्चारण-स्थान का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है।

जिह्वामूल-

जिह्वा के मूल से उच्चरित ध्वनियां जिह्वामूलीय अभिहित की जाती हैं। *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* में 'ऋ', 'लृ', ᳵ क तथा कवर्ग (क ख ग घ ङ) को जिह्वामूलीय कहा गया है[4], पाणिनीय व्याकरण में कवर्ग से पहले अर्धविसर्ग (ᳵ क) जैसा चिन्ह

---

1. ऋक्-प्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. मांगेराम यादव, परिमल पब्लिकेशन्स, 2005 दिल्ली पृष्ठ-31
2. कण्ठयोऽकारः (1.38) प्रथमपंचमौ च द्वा ऊष्माणाम् (1.39) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।-अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
3. केचिदेता उरस्यौ। (1.40) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
4. ऋग्वेद प्रातिशाख्य, (1.41)

जिह्वामूलीय माना जाता है। अष्टाध्यायी में कवर्ग को कण्ठ्य, 'ऋ' को मूर्द्धन्य तथा 'लृ' को दन्त्य वर्णित किया गया है[1]।

तालु-

जिन ध्वनियों का उच्चारण तालु स्थान से होता है, वे तालव्य नाम से पुकारी जाती हैं। *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* में ए, चवर्ग (च छ ज झ ञ), इ, ई, ऐ, य और श – इन वर्णों को तालव्य माना गया है, जबकि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार इ, ई, चवर्ग (च छ ज झ ञ), य और श-ये वर्ण की तालव्य हैं।[2]

मूर्द्धा-

मूर्द्धा स्थान से उच्चरित ध्वनियां मूर्द्धन्य होती हैं। प्रातिशाख्य के अनुसार ष, टवर्ग (ट ठ ड ढ ण)-ये वर्ण मूर्द्धन्य हैं, परन्तु अष्टाध्यायी में ऋ, टवर्ग (ट ठ ड ढ ण), र तथा ष वर्णों को मूर्द्धन्य अंगीकार किया गया है।[3]

दन्तमूल-

जिन ध्वनियों का उच्चारण दन्तमूल-स्थान से होता है, वे दन्तमूलीय नाम से जानी जाती हैं। शौनक ने तवर्ग (त थ द ध न), स, र ल-इन वर्णों को दन्तमूलीय माना है, जबकि पाणिनि ने तवर्ग (त थ द ध न), ल तथा स को तो दन्त्य कहा है और 'र' को मूर्द्धन्य।[4]

बर्स्व-

दन्तमूल से ऊपर उठे हुए प्रदेश को बर्स्व कहा जाता है। *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* में बताया गया है कि कतिपय आचार्य रेफ को बर्स्व स्थान से उच्चरित मानते हैं[5], लेकिन अष्टाध्यायी में इस उच्चारण-स्थान का उल्लेख नहीं मिलता है।

---

1. ॅक ॅप इति कपाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ, अष्टाध्यायी, 8/2/1, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
   अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। ऋटुरषाणां मूर्द्धा। लृतुलसानां दन्ताः। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
2. तालव्यावेकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः (1.42) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
   इचुयशानां तालु। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
3. मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ। 1.43 -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
   ऋटुरषाणां मूर्द्धा। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
4. दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः (1.44) सकाररेफलकाराश्च (1.45) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
   लृतुलसानां दन्ताः। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
5. रेफं बर्स्व्यमेके (1.46) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य

ओष्ठ-

जिन ध्वनियों का उच्चारण ओष्ठ स्थान से होता है, वे ओष्ठ्य अभिहित की जाती हैं। शौनक ने उ, ऊ, ओ, औ, प फ ब भ म, व तथा उपध्मानीय (ᳵ प) को ओ ओष्ठ्य स्वीकार किया है, परन्तु पाणिनि ने उ, पवर्ग (प फ ब भ म) तथा उपध्मानीय (ᳵ प)- इन वर्णों को ओष्ठ्य माना है।[1]

नासिका-

जिन ध्वनियों का उच्चारण नासिका स्थान से होता है, वे नासिक्य नाम से जानी जाती हैं। *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* ने नासिका (ँ), यम (कं खं गं घं) और अनुस्वार का उच्चारण नासिका से होता है, जबकि अष्टाध्यायी में ञ म ङ ण न तथा अनुस्वार को नासिका स्थान से उच्चरित माना गया है।[2]

कण्ठ-तालु, कण्ठ-ओष्ठ तथा दन्त-ओष्ठ-

अष्टाध्यायी के अनुसार ए, ऐ का उच्चारण कण्ठ-तालु से, ओ, औ का उच्चारण कण्ठ-ओष्ठ से तथा 'व' का उच्चारण दन्त-ओष्ठ से संयुक्त रूप से सम्पन्न होता है।[3] इन तीन संयुक्त उच्चारण-स्थानों का *ऋग्वेद प्रातिशाख्य* ने उल्लेख नहीं किया है। प्रातिशाख्य में ए ऐ को इ ई की भांति तालु से तथा ओ औ को उ ऊ की तरह ओष्ठ से और 'व' को भी ओष्ठ से उच्चरित ही माना गया है[4]।

वर्णोत्पत्ति में प्रयत्न विषयक अन्तर

वर्णोच्चारण की इच्छा होने पर मुखावयवों में प्राणवायु के प्रभाव से लगने वाले बल को प्रयत्न कहा जाता है। प्रयत्न के दो भेद होते हैं-1) आभ्यन्तर प्रयत्न, 2) बाह्य प्रयत्न।

आभ्यन्तर प्रयत्न

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में आभ्यन्तर प्रयत्न के स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट तथा अस्पृष्ट-इन

---

1. शेष ओष्ठयोऽपवाद्य नासिक्यान् (1.47) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
   उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
2. नासिक्ययमानुस्वारान् (1.48) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
   ञमङणनानां नासिका च, नासिकानुस्वारस्य। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
3. एदैतोः कण्ठ्यतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
4. ऋग्वेद प्रातिशाख्य (1.42; 1.47)

तीन भेदों का वर्णन उपलब्ध होता है[1], लेकिन पाणिनीय व्याकरण में स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत तथा संवृत आभ्यन्तर प्रयत्न के चार भेद माने गए हैं।[2] अब दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित वर्णों के आभ्यन्तर प्रयत्न में अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

स्पृष्ट-

ऋग्वेद प्रातिशाख्य तथा *अष्टाध्यायी* दोनों ग्रन्थों में क से म तक सभी 25 वर्णों को स्पृष्ट आभ्यन्तर प्रयत्न वाला माना गया है।[3]

दु:स्पृष्ट (ईषत्स्पृष्ट)-

य र ल व- इन वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न इस प्रातिशाख्य में दु:स्पृष्ट बताया गया है तथा पाणिनि ने इन्हीं वर्णों को ईषत्स्पृष्ट माना है।[4] उव्वट ने अपने भाष्य में दु:स्पृष्ट का अर्थ ईषत्स्पृष्ट किया है।

अस्पृष्ट(विवृत)-

प्रातिशाख्य ने स्वर, अनुस्वर तथा ऊष्म वर्णों को अस्पृष्ट आभ्यन्तर प्रयत्न वाला स्वीकार किया है, जबकि *अष्टाध्यायी* में स्वरों और ऊष्म वर्णों का ही विवृत प्रयत्न कहा गया है।[5]

संवृत-

अष्टाध्यायी के अनुसार ह्रस्व 'अ' वर्ण का वास्तविक उच्चारण अर्थात् प्रयोग में आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत ही है, परन्तु व्याकरण की प्रक्रिया दशा में अर्थात् व्याकरण के विभिन्न नियमों में अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत माना गया है।[6]

---

1. स्पृष्टमस्थितम् (13.9) दु:स्पृष्टं तु प्राग्हकाराच्चतुर्णाम् (13.10) स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम् (13.11) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
2. आद्यश्चतुर्धा। स्पृष्टेषत्स्पृष्टविवृतसंवृत भेदात्। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
3. स्पृष्टमस्थितम् (13.9) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
   स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
4. दु:स्पृष्टं तु प्राग्हकाराच्चतुर्णाम् (13.10) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
   ईषत्स्पृष्टमन्त:स्थानाम्। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
5. स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम् (13.11) -ऋग्वेद प्रतिशाख्य
   विवृतमूष्मणां स्वराणां च। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
6. ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायामेव तु विवृतमेव। -अष्टाध्यायी, 1/1/9, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी

बाह्य प्रयत्न

ऋग्वेद प्रातिशाख्य ने बाह्य प्रयत्न की दृष्टि से वर्णों को अघोष तथा सघोष दो वर्णों में बांटा है, लेकिन *अष्टाध्यायी* में-विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित-बाह्य प्रयत्न के ये ग्यारह भेद स्वीकार किए गए हैं।[1]

विवार, श्वास, अघोष-

प्रातिशाख्य में श, ष, स, अः, ᳲ क, ᳳ प, अं, क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ-इन वर्णों को अघोष प्रयत्न वाला माना गया है तथा अष्टाध्यायी में यम, ᳲ क, ᳳ प, अः, श, ष, स, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क वर्णों का बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास तथा अघोष बताया गया है।[2]

संवार, नाद, घोष-

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ओ ऐ औ ई ३ ग घ ङ ज झ ञ ड ढ ण द ध न ब भ म य र ल व ह-ये सभी ध्वनियां सघोष हैं। *अष्टाध्यायी* के अनुसार अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ओ ऐ औ ग घ ङ ज झ ञ ड ढ ण द ध न ब भ म य र ल व ह-ये वर्ण संवार, नाद तथा घोष प्रयत्न वाले होते हैं।[3]

अल्पप्राण तथा महाप्राण-

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में इनका वर्णन नहीं मिलता है, जबकि *अष्टाध्यायी*[4] में क ग ङ च ज ञ ट ड ण त द न प ब म, प्रथम और तृतीय यम और य र ल व-अल्पप्राण प्रयत्न वाले होते हैं और ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ श ष स ह-इन वर्णों का महाप्राण प्रयत्न होता है।

✦✦✦

---

1. बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा। विवारः, संवारः, श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। - अष्टाध्यायी, 8/2/1, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
2. अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः (1.11) वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ (1.12) -ऋग्वेद प्रातिशाख्य
   खयां यमाः खयःᳲक ᳳपौ विसर्गः शर एव च।
   एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते।।
   कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः।
   अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चाल्पासवः स्मृताः।।-अष्टाध्यायी,8/2/1, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
3. पारिशेष्यादन्यानि घोषयत्संज्ञकानि व्यंजनानि।-ऋग्वेद प्रातिशाख्य (1.12) पर उव्वट भाष्य
   अष्टाध्यायी, 8/2/1, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
4. अष्टाध्यायी, 8/2/1, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी

उपनिषदों में भक्ति तत्त्व

–डॉ० संदीप कुमार चौहान

वेद विभाग,

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार

वैदिक साहित्य में वेदों व ब्राह्मणों के अतिरिक्त उपनिषद् भी आते हैं। इनकी संख्या 108 मानी जाती है, किन्तु प्रामाणिक उपनिषद् 11 हैं।

इन ग्रन्थों में ऋषियों का आध्यात्मिक अनुभव वर्णित है। इनमें यज्ञादि कर्मों का वर्णन नहीं है। ये सरल भाषा में लिखे गए हैं तथा ऋषियों की अपनी प्रतिभा से जिस सत्य की खोज हुई उसी का वर्णन इन ग्रन्थों में है।

उपनिषदों में मूर्त्त और अमूर्त्त तथा मर्त्य और अमृत दो रूपों का वर्णन हुआ है। मूर्त्त प्रत्यक्ष व अमूर्त्त अप्रत्यक्ष। जो मूर्त है, वह मर्त्य है तथा जो अमूर्त है वह अमृत। मूर्त्त साधन हैं तो अमूर्त्त साध्य।

आत्मा के बारे में लिखा है कि वह अनन्त, शाश्वत, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्दस्वरूप है। हमारी श्रद्धा व पूजा का वही अधिकारी है। जिसने आत्मा को नहीं जाना उनके भक्ति या उपासना के सभी प्रयत्न व्यर्थ हैं। यदि आत्मा को न जाना तो जीवन मरण के चक्र से छुटकारा नहीं। जन्म मरण के बंधन से छूटने का एकमात्र तरीका आत्मतत्त्व को जानना है।

उस अनादि अनन्त आत्मा को जानने के उपायों का वर्णन करते हुए भक्ति की महत्ता को सभी ने स्वीकार किया है। योग एक कठिन व कष्ट साध्य मार्ग है। ज्ञान का मार्ग रूखा और सब लोगों की पहुँच से परे है। किन्तु भक्तिमार्ग सबकी पहुँच में है। संसार से अपनी वृत्तियों को हटाकर ईश्वर की ओर करना होता है। भक्त अपने इष्टदेव की आराधना में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। अपनी उसकी कोई इच्छा नहीं रह जाती, वह आनन्द विभोर हो उठता है। तैत्तिरीयोपनिषद् का ऋषि कहता है कि प्रभु निश्चय ही रसरूप हैं। भक्त इन्हीं रसरूप प्रभु को पाकर आनन्दपूर्ण हो जाता है[1] छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद्, कठोपनिषद् इन

---

1. रसो वै सः। रसं हि लब्ध्वा आनन्दी भवति।। 7, 2

सबमें आत्मा के साक्षात्कार का केवल एक ही मार्ग सुझाया गया है और वह है भक्ति। कामनाओं से रहित मनुष्य शोकरहित हो जाता है और संसार से विरक्त होकर ईश्वर की ओर प्रवृत्त हो जाता है उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। यह श्रद्धा, भक्ति का अनिवार्य अंग है। आत्मा को जानने के सर्व प्रमुख साधनों में श्रद्धा का ही स्थान है। मुंडकोपनिषद् में इस प्रकार का वर्णन आया है[1] ऐसा ही छान्दोग्य में भी लिखा है।[2]

ईश्वर की प्राप्ति में भक्ति से पूर्व एक चरण और है जिसे ज्ञान कहा जाता है अर्थात् उस अपूर्व सत्ता का ज्ञान भी तो होना चाहिए जिससे कि भक्ति का उदय हो, यह ज्ञान गुरु बिना असम्भव है। भक्ति के मार्ग अनेक हैं। मार्ग-दर्शक की तो साधारण मार्ग जानने के लिए भी आवश्यकता पड़ जाती है। किसी नगरावलोकन के समय 'गाइड' चाहिए। जो मार्ग जानता हो। जो उन मार्गों में भटककर सही रास्ता जान चुका हो, जिसने मार्गों के सम्बन्ध में अनुसंधान कर लिया हो, ऐसे दर्शक की खोज में लोग जाते हैं। ऐसे ही मनुष्य को खोजते हैं जो मार्ग का अनुभवी हो अर्थात् मार्ग से परिचित हो।

ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग तो अत्यन्त दुष्कर है उसे जानने वाला सच्चा गुरु चाहिए जो स्वयं मार्ग जानता हो अन्यों को भी मार्ग बता सके। तो इस प्रसंग की चर्चा भी उपनिषदों में की गई है। कठोपनिषद् से लिए गए कुछ उद्धरण देखिए-

(1) इसका वर्णन करने वाले और प्राप्त करने वाले अत्यन्त थोड़े हैं।[3]

(2) यह 'आत्मा' अयोग्य गुरुओं द्वारा सिखाए जाने पर समझ में नहीं आता।[4]

(3) आत्म ज्ञान तर्क से नहीं मिलता। जब कोई ऐसा आचार्य मिले जिसने इसे प्राप्त किया है और वह आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान दे तभी यह सुगमता से समझ में आ सकता है।[5]

आचार्य या गुरु के साथ-साथ शिष्य भी जिज्ञासु होना चाहिए। जिज्ञासु शिष्य

---

1. तपः श्रद्धेये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वानो भेक्ष्यचर्यांचरन्तः।
   सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो हयव्ययात्मा।। 1/2/11
2. यदेव विद्यायकरोति, श्रद्धया, उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति। 1,1,10
3. श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः।
   आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।। 2/7
4. न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
   अनन्यप्रोक्ते न गतिरत्र नास्ति अणीयाह्यतर्क्यमनुप्रमाणात्।। 1/2/8
5. नैषातर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
   यान्त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नोभूयान्नचिकेतः प्रष्टा।। 2/9

किसे कहते हैं इस प्रश्न का उत्तर शिष्य के गुणों का बयान करके उपनिषद् ने पूरा किया है।

शिष्य के गुणों का विस्तार से विश्लेषण करते हुए वहाँ लिखा है कि वह शान्त चित्तवाला, संयमी और वैरागी हो। वह निरभिमानी हो और बताए हुए मार्ग पर चले।

भक्ति के अन्य अंगों में स्वाध्याय एवं तपादि का भी स्थान है जिसकी चर्चा मुण्डकोपनिषद् आदि में मिल जाती है। वैष्णव सम्प्रदाय व उपनिषद्कारों की विचारधारा में यहाँ वैषम्य मिलता है। उपनिषदकारों ने ज्ञान, तप व त्याग को भक्ति के साधन माना है जबकि वैष्णव लोग इन्हें भक्ति के अंगों में गिनते हैं।

'जप' या नाम स्मरण के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में चर्चा आई है।

प्रभु का निज नाम ओ३म् है। गुणों के आधार पर उसके अन्य नाम भी हैं। किन्तु वे जीवात्माओं पर घटित हो सकते हैं किन्तु ओ३म् ऐसा नाम है जो अन्यों पर घटित नहीं हो सकता। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रारम्भ में ओ३म् की महत्ता प्रतिपादित की गई है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ओ३म् का वर्णन आया है। ईशोपनिषद् में 'ओ३म् क्रतो स्मर'[1] ऐसा लिखा है। कठोपनिषद् में भी ओ३म् अक्षर की महत्ता का वर्णन हुआ है।

"अतः जिस पद अर्थात् शब्द के जानने के वास्ते उपर्युक्त साधन किए जाते हैं, उस साधन को संक्षेप में तुझे बताता हूँ। वह पद केवल ओ३म् है अर्थात् अकार से व्यापक होने, उकार से प्रकाशक होने और मकार से बुद्धिमत्ता और प्रकाश स्वरूप का प्रमाण तथा इसके अतिरिक्त अन्य सब कामों का पता ओ३म् से लग जाता है।"[2]

ओ३म् अक्षर है। यही सबसे बड़ा और नाश रहित ब्रह्म है और यही मनुष्य जीवन का नियत मार्ग या सबसे बढ़कर जानने योग्य पदार्थ और ज्ञान की अन्तिम सीमा है। सारे साधन इसके ज्ञान के लिए ही आवश्यक हैं। जिस प्रकार मार्ग की कुल सामग्री नियत स्थान पर पहुँचने के लिए होती है, ऐसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सब पदार्थ ओ३म् को जानने के लिए ही हैं ... जहाँ अविद्या नहीं वहाँ राग द्वेष हो ही नहीं सकता, जहाँ राग द्वेष नहीं वहाँ दु:ख किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होते अतः ओ३म् के स्वरूप को जान लेना ही सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त होना है।'[3]

---

1. ईशो., 17
2. सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। —कठोपनिषद् 1/2/15
3. एतदध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परं एतदध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। —कठोपनिषद् 1/2/16

"ओ३म् की उपासना सर्वश्रेष्ठ मुक्ति का साधन है"।[1]

"ओंकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम सबसे बड़ा कहाता है, वह धनुष है और आत्मा निश्चय ही तीर और जिस लक्ष्य पर बाण लगाना है, वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा है। अर्थात् ओ३म् के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लगाना है क्योंकि धनुष के द्वारा बाण लक्ष्य पर लगा करता है, परन्तु किस प्रकार इस बाण को लगाना चाहिए कि बहुत ही सावधानी से, क्योंकि असावधानी से यह बाण नहीं लग सकता, किन्तु आलस्य को त्याग, अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर ओंकार के द्वारा जीवात्मा की ओर लगाना चाहिए जिस प्रकार धनुष से छूटा बाण सीधा लक्ष्य की ओर जाता है। बीच में इधर-उधर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा को सीधा परमात्मा की ओर लगना चाहिए इधर-उधर नहीं भटकना चाहिए ताकि यह आत्मा परमात्मा जैसा हो जावे।[2]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद्कार ओंकार के प्रेमपूर्वक उच्चारण का एक स्वर से समर्थन करते हैं और उसे प्रभु-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन मानते हैं।

उपनिषद् युग तक प्रभु का निज व मुख्य नाम ओ३म् ही रहा। तदनन्तर ओ३म् नाम लोगों से छूट गया और अन्य अनेक नाम इसकी जगह आ गए किन्तु यह नाम पूर्णतया विस्मृत नहीं हुआ।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि उपनिषदो में प्रभु-भक्ति के अंगों श्रद्धा, जप, तप स्वाध्यायादि के महत्व को स्वीकार किया गया है। नाम स्मरण के लिए ओ३म् का विधान है जो ईश्वर का सर्वगुणवाचक शब्द है।

✦✦✦

---

1. एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदवलम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। —कठोपनिषद् 1/2/17
2. प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् —मुण्डकोपनिषद् 2/2/4

ऋग्वेद के कतिपय पदों पर आर.टी.एच. ग्रिफिथकृत अर्थों का तुलनात्मक दिग्दर्शन

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री एवं
रुचि अग्रवाल (शोधच्छात्रा)

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

'वेद' सकल विद्याओं का मूल उद्‌गम है। वैदिक संहिताओं में मानव जीवन को दिव्यता प्रदान करने वाला अनुपम ज्ञान तिरोहित है। वैदिक विचार सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। प्रभु की इसी अनूठी ज्ञान-राशि को ऋषियों ने आत्मसात् कर व्याख्या के रुप में ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आरण्यकों की रचना की उन्होंने वेद के अर्थ व प्रतिपाद्य को अपने तप के बल से वैदिक ऋचाओं में अन्वेषित कर मानव मात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

प्राचीनता, प्रामाणिकता, विषदता एवं विषय की दृष्टि से ऋग्वेद की महत्ता सर्वाधिक है, ऐसा वेदवेत्ता मनीषियों का निर्णय होने से मान्य है। इसका सर्वप्रथम एवं प्रमुख कारण स्वयं वेद की ऋचाएँ हैं जो ऋग्वेद का प्राथम्य और प्राधान्य प्रमाणित करती हैं। पाश्चात्य विद्वान् तो वेदों की पूर्वापरता में विश्वास करते ही हैं। भारतीय मनीषियों में जो वेद को ईश्वरीय वाणी मानते हैं, वे वेद के नित्यत्व में विश्वास रखते हैं। वे ऋग्, यजु, साम, अथर्व क्रम में ऋग्वेद को ही प्रथम और प्रमुख मानते हैं।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनुस्मृति 2.61) अर्थात् वेद ही अखिल धर्मों का मूल है। यही परम प्रमाण है। अतः वेदार्थ करने के लिए आचार्यों ने अपने ढंग से अनेक प्रयास किये। प्राचीन काल में जितना मानव मस्तिष्क उर्वरक एवं विकसित था, उतना परवर्ती काल में नहीं रहा। यही कारण था कि उत्तरोत्तर वेद जैसे गूढ़ विषय को जानना अत्यन्त कठिन कार्य बन गया। इसके लिए फिर ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण हुआ। यास्क ने अपने निरुक्त की रचना की जो वेदार्थ अनुशीलन की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय थी, किन्तु कालान्तर में जब अर्थादिबोध में कठिनाईयां होने लगीं तो वेद भाष्यों का निर्माण हुआ। अतः संहिताओं, ब्राह्मणों व उपनिषदों पर अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अनेक भाष्य लिखे गये।

इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों में आर.टी.एच. ग्रिफिथ एक ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने चारों वेदों पर अंग्रेजी में पद्यात्मक रूप से अनुवाद किया है। ग्रिफिथ का पूरा नाम राल्फ थॉमस हॉटकिंग ग्रिफिथ है। इनके द्वारा किया गया "The Hymns of the Rigveda" का पद्यात्मक अनुवाद पाश्चात्य विद्वान् विल्सन तथा भारतीय विद्वान् सायण के भाष्य पर आधारित है। इनके द्वारा किया गया पद्यात्मक भाष्य बहुत अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि ये प्रत्येक सूक्त की व्याख्या करते समय उसकी पाद-टिप्पणियाँ भी देते हैं तथा पूर्ववर्ती वेद-व्याख्याताओं और भाष्यकारों का भी उल्लेख करते हैं। इसलिए इन्हें वेद-व्याख्याताओं में मध्यममार्गी कहा जाता है क्योंकि ये दोनों परम्पराओं का मिश्रण करते हैं। इनके द्वारा किया गया कार्य इस प्रकार है-

- *The Ramayan of Valmiki (Published 1870)*
- *Hymns of the Rigveda (Published 1889)*
- *Hymns of Samaveda (Published 1893)*
- *Hymns of Atharvaveda (Published 1896)*
- *The texts of the Yajurveda (Published 1899)*

पाश्चात्य विद्वान् ग्रिफिथ का विचार है कि वेद का शब्दशः अर्थ ज्ञान है। यह नाम किन्हीं प्राचीन कार्य को दिया गया है जो हिन्दुओं के प्रारम्भिक धार्मिक विश्वासों के आधार थे। ये ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद हैं। इनमें से ऋग्वेद ऐसा इसलिए कहलाता है क्योंकि इसकी संहिता मंत्र और सूक्तों का संग्रह है। आर.टी. एच. ग्रिफिथ ने "दि हिम्स ऑफ दि ऋग्वेद" की भूमिका में लिखा है- *"The samhita of the Rigveda is a collection of hymns and songs"* जिसमें ऋचा या मंत्र से अभिप्राय है कि उनका उच्च स्वर में पाठ किया जाये।

ग्रिफिथ ने वेदों के काल के सम्बन्ध में अपनी कोई संस्तुति नहीं दी है। उनका कहना है कि ये चारों पवित्र वेद ईश्वरीय हैं और ये अनन्त काल से अस्तित्व में रहे हैं। उसी भूमिका में उन्होंने लिखा है-*"These four Vedas are considered to be of divine origin and to have existed from all eternity."*

ऋग्वेद में 10 मण्डल हैं। अतः ग्रिफिथ ने 'मण्डल' शब्द को ध्यान में रखते हुए उसे *'Book'* का नाम दिया है। प्रथम मण्डल के आधार पर ही हम कतिपय पदों के अर्थों का विवेचन कर रहे हैं। इसमें 191 सूक्त हैं। इसमें मुख्य रूप से विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित स्तुतियों का संकलन किया गया है, जो तत्व ज्ञान विचारों से परिपुष्ट होने के कारण मानव मात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसमें 33 देवताओं की स्तुतियों का संकलन किया गया है। 'स्तुति' गुणकीर्त्तन का नाम है और 'देवता' मन्त्र का प्रतिपाद्यविषय होता है।

आर.टी.एच. ग्रिफिथकृत कतिपय पदों का तुलनात्मक दिग्दर्शन इस प्रकार है–

अग्नि–

वेदों में अग्नि मूर्धन्य देव है। ग्रिफिथकृत *"The Hymns of Rigveda Book I"* में अग्नि से सम्बन्धित लगभग 46 सूक्त हैं। अग्नि, पृथ्वी तथा स्वर्ग के मध्य सन्देशवाहक है क्योंकि वह उनके पुजारियों तक इन आहुतियों को ले जाने का कार्य करती है। प्रत्येक गृह में विद्यमान होने के कारण इन्हें *house fire* गृहपति कहा गया है।

अग्नि की लपटों की तीखी आवाज व गर्जना के कारण अग्नि को रुद्र कहा गया है। रिपुओं को कम्पायमान करने के कारण अग्नि की तुलना इन्द्र से भी की गई है।

अग्नि सृष्टिकर्ता है क्योंकि जिस प्रकार गाय बछड़ों के लिए दूध तैयार करती है उसी प्रकार वह अग्नि मनुष्यों के लिए भोजन का निर्माण करती है। अग्नि मर्त्यों में अमर्त्य है। अमर्त्य विशेषण बहुत स्थानों पर आता है। अग्नि की पवित्रता को प्रकट करने के लिए ही इन्हे *"Purifier" or "Holy one"* आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है। प्रसंगानुसार अग्नि को *River* भी कहा गया है, क्योंकि उसकी उदारता पानी की धाराओं के समान बहती है।[1]

ग्रिफिथ ने अपने ऋग्वेद भाष्य में 'अग्नि' के *Chosen Priest, Radiant one, Wealth Giver, Mighty one, Farseeing one, Glorious bull, Guardian of men, Pure one, Foes-destroyer, Brilliant one* आदि विशेषण दिये हैं।

महर्षि दयानन्द ने अञ्चूगतिपूजनयोः ; अग अगि इण् आदि गत्यर्थक धातुओं से 'अग्नि' पद सिद्ध किया है। गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति पूजनं नाम सत्कारः योज्यति अच्यतेङ् गत्येति सोऽयमग्नि : यह अर्थ किया है। उणादिसूत्र के अङ्गेर्नलोपश्च (4.50) सूत्र में इसका अर्थ "अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स अग्निः" किया है। महर्षि दयानन्द ने अपने अनेक मंत्रों में अग्नि का ईश्वर अर्थ ग्रहण किया है।

स्वामी दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य में अग्नि के सर्वपरमेश्वर, परमेश्वरो भौतिको व, सर्वदुःख प्रणाशक सर्वशत्रुप्रदाहकोवा, राजविद्याविचक्षणः, अध्यापक, विज्ञानप्रद, सभापति, सर्वमङ्गलकारकपरमेश्वर आदि अनेक अर्थ ग्रहण किये हैं।

आचार्य सायण ने अग्नि के 'अग्रणीत्वादि गुणविशिष्टः पृथ्वीस्थान' 'अङ्गनादिगुणयुक्तः देवः' आदि अर्थ दिये हैं।

1. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, आर.टी.एच. ग्रिफिथ, ऋग्वेद 1.46.4

मैक्डानल अग्नि के सम्बन्ध में लिखते हैं 'अग्नि एक पार्थिव देव है, जिनको वेदों के सांसारिक काव्य के केन्द्र यज्ञाग्नि के मूर्तिकरण के रूप में स्वभावतः सर्वाधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार अग्नि एक द्रष्टा (ऋषि) हैं और साथ ही साथ एक पुरोहित। इन्हें विशिष्ट द्रष्टा के रूप में प्रज्जवलित किया जाता है।

निरुक्त का 'अङ्गंनयति सन्नममानः' भी परमात्मा के अर्थ में संगत हो सकता है, क्योंकि अग्नि का कार्य है उस पदार्थ को आत्मसात् कर लेना।

इन्द्र–

ग्रिफिथ के ऋग्वेद भाष्य में इन्द्र से सम्बन्धित 46 सूक्त हैं। साथ ही युगलरूप में इन्द्र का नाम कई देवताओं के साथ लिया जाता है, यथा इन्द्राणी, इन्द्रवायु, इन्द्रावरुण, इन्द्रासोमा आदि। इन्द्र के अश्व एवं रथ का उल्लेख बहुधा पाया जाता है। इन्द्र के रथ में लाल रंग के अश्व जुड़ते हैं। एक स्थान पर आया है कि इन्द्र वायु को सोमपान कराने के लिए सहस्रों घोड़े ले जाते हैं। इन्द्र के घोड़े केशों से युक्त हैं।

"Harness thy pair of strong bay steeds, long-maned, whose bodies fill the girths,"[1]

इन्द्र के वज्र का वर्णन भी अनेक स्थान पर आता है। इनका वज्र हिरण्यवर्ण है। अन्यस्थानों पर आता है कि इन्द्र अपने हाथों में लोहे के बने वज्र को धारण करते हैं। इन्द्रवृत्र युद्ध का वर्णन भी ग्रिफिथकृत ऋग्वेद मण्डल एक के अनेक स्थलों पर देखने को मिलता है। वृत्र से युद्ध करने के कारण ही इन्द्र को *"Slayer of Vṛtra"* कहा गया है। अनेक स्थलों पर आया है कि इन्द्र ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अधिपति है। इन्द्र के पराक्रम को दर्शाने के लिए मन्त्रार्थ रूप में ग्रिफिथ द्वारा *"Lord of strength"*,[2] *"Lord of powerful"*,[3] *"Lord of Hundred powers"*[4] आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। इन्द्र को *"Treasure Lord of Wealth"*[5] भी कहा गया है। *"To the flood"*[6] विशेषण इन्द्र की उदारता को प्रदर्शित करता है, इन्द्र को नदी तथा समुद्र के समान दानशील बताया है। इन्द्र सोमपान अधिक करते

---

1. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, 1.10.3
2. वही 1.11.1
3. वही 1.11.2
4. वही 1.30.1
5. वही 1.9.9
6. वही 1.11.6

हैं इसलिए इन्हें *"Soma drinker"*[1] कहा गया है। कई स्थलों पर इन्द्र को *"Asura"*[2] भी कहा गया है।

ग्रिफिथ ने अपने ऋग्वेद भाष्य में इन्द्र के *Lord of Treasure, Soma drinker, Awful one, Thunder armed, Ruler irresistible, Omnific God,Guardian Lord , Splendid one, Emulously fain, for wealth, Rain, Hero, Sage* आदि विशेषण ग्रहण किये हैं।

स्वामी दयानन्द ने इन्द्र शब्द के प्रकरणानुकूल शूरवीर सेनापति, राजा, सूर्य, सभाध्यक्ष, शूरवीर, परमेश्वर अर्थ किये हैं। इन्द्र-वृत्र युद्ध से स्वामी जी का अभिप्राय सूर्य और मेघ से है। इन्द्र (सूर्य) अपनी तेज रश्मियों से (वज्र) मेघों को काट देता हैं, जिससे वर्षा होती हैं। सम्भवतः इसी से इन्द्र वर्षा का देवता कहा जाने लगा। स्वामी दयानन्द के ऋग्वेद भाष्य में इन्द्र के परमेश्वर, विद्यादि परमैश्वर्य युक्त विद्वान्, जीव, सूर्य, दुःखानां विदारयिता, अखण्डैश्वर्यप्रद जगदीश्वर, ऐश्वर्ययुक्त शूरवीर, विद्युत् इव पराक्रमी, सभाध्यक्ष, परमैश्वर्य प्रापक सेनापति, परमैश्वर्यवान् राजा आदि अर्थ ग्रहण किये है।

ए.ए. मैक्डानल और ए.बी. कीथ भी इसकी गणना अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में करते हैं तथा इसे युद्ध का देवता मानते हैं। मैक्डानल के अनुसार इन्द्र वैदिक भारतीयों के प्रियतम राष्ट्रीय देवता हैं।[3] इतना ही नहीं मैक्समूलर इन्द्र को सूर्य का प्रतिरूप मानते हैं। महर्षि अरविन्द का मानना है कि इन्द्र आकाश और वर्षा या भौतिक प्रकाश का देव है।[4] रॉथ के अनुसार यह इन्द्र वर्षाकालीन तूफान का देवता, बैनफे के अनुसार वर्षाकालीन आकाश का देवता है। ग्रासमान इसे आकाश का देवता मानते हैं।[5] प्रो. विल्सन इसे ईर्ष्यालु प्रकृति का व्यक्ति बताते हैं,[6] जो अपने स्तोताओं की अपेक्षा नास्तिकों पर कृपा करता है। निरुक्त 10.8 में इन्द्र अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं मे सम्मिलित किया गया है।

---

1. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, 1.4.2
2. वही 1.54.3
3. वैदिक देवशास्त्र पृ0-126, डॉ. सूर्यकान्त (अनुवादक), प्रकाशक- पाणिनी प्रकाशक व मुद्रक, अंसारी रोड़, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1961 ई.।
4. वेद रहस्य (अरविन्द) अ0-9, पृ. 135, अभयदेव विद्यालंकार, जगन्नाथ वेदालंकार (अनुवादक), प्रकाशक- श्री अरविन्द सोसाइटी, पांडिचेरी।
5. *The New Vedic Selection Part I,* परिशिष्ट, पृ.-44, डॉ. बृज बिहारी (चौबे), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, यू.बी. जवाहर नगर, बंगलो रोड, दिल्ली-7, तृतीय संस्करण, 1976 ई.।
6. ओरि. संस्कृत टै. भा. 5, पृ. 125, टिप्पणी से उद्धृत।

आचार्य सायण ने इन्द्र पद के देवानाम् अधिपतिः[1], परमैश्वर्ययुक्तः देवता आदि अर्थ किये हैं। अन्यत्र उन्होंने निरुक्त को आधार बनाकर अनेक निर्वचन दिये हैं। वहीं अन्य स्थानों पर इन्द्र का अर्थ परमैश्वर्यसम्पन्न तथा परमैश्वर्यवान् भी किया है। भट्टभास्कर ने भी 'इन्द्रः' का अर्थ 'ऐश्वर्ययुक्त' किया है।[2]

अश्विनौः-

ऋग्वेद में युगल देवता के रूप में अश्विनौ का उल्लेख किया गया है। अश्विनौ देवता के ऋग्वेद (प्रथम मण्डल) में 13 सूक्त हैं।

अश्विनौ की उत्पत्ति का वर्णन प्रायः बहुत कम स्थानों पर आता है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल में अश्विनौ को समुद्र की संतान माना गया है।[3] अश्विनौ की सात माताओं का उल्लेख मिलता है।[4] अश्विनौ की शारीरिक विशेषताएं भी बहुत कम दृष्टिगोचर होती हैं। इन्हें बहुरूपी कहा गया है।[5] इसके अतिरिक्त इन्हें ***'Golden coloured'*** (पीतवर्ण) भी कहा गया है।[6] अश्विनौ की भुजाओं के वर्णन में इनके लिए हिरण्यहस्त विशेषण का प्रयोग हुआ है।[7]

ऋग्वेद में अश्विनौ के रथ एवं अश्वों का वर्णन अत्यधिक रोचक एवं उपमाओं से सुसज्जित है। यथा सुंदरता को प्रकट करने के लिए ऋ.1.117.2 में ***'best of Chariot'*** (सुरथ) विशेषण मिलता है। अश्विनौ के रथ की गति वेगवान् मन से भी अधिक बताई है। एक अन्य मन्त्र में रथ का वर्णन इससे भी अधिक सुन्दर रूपों में वर्णित किया गया है।

अश्विनौ के रथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका रथ ध्वजायुक्त व सहस्त्रों सम्पत्ति से युक्त है।[8] इतना ही नहीं अश्विनौ के रथ पर सूर्य-पुत्री भी आरूढ़ होती है।[9] अश्विनौ अत्यधिक मधु का पान करते हैं इसलिए कहा गया है

---

1. अथर्व. 1.7.7, 3.1.6 (सायणाचार्य), विश्वबन्धुशास्त्री (सम्पा.), प्रकाशक-विश्वेवरानन्द, वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर।
2. तै.आ., भाग-2, पृ.-11, सायण भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1897
3. ***'Son of the Sea'.*** दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, आर.टी.एच. ग्रिफिथ, ऋग्वेद 1.46.2
4. वही 1.34.8
5. ***'O Aswins, wearing manyforms.'*** वही 1.117.1
6. वही 1.181.5
7. वही 1.117.24
8. वही 1.119.1
9. वही 1.118.5

कि इन्होंने मधु के सौ-सौ घड़ों का सिञ्चन किया।[1] ग्रिफिथ ने प्रकरणानुसार अश्विनौ का सूर्य अर्थ भी ग्रहण किया है।[2] एक स्थान पर अश्विनौ को शिल्पीवाचक भी कहा गया है।

ग्रिफिथ के ऋग्वेद भाष्य में अश्विनौ शब्द के *Bright with fire, Son of the sea, Omniscient, lord of splendor, Darsas, Heroes, lord of many treasure, mighty one* आदि अर्थ दिये हैं।

स्वामी दयानन्द ने "अश्विनौ" पद के प्रकरण के अनुसार जल, अग्नि, सूर्य, और चन्द्रमा, द्यावापृथिवी, अध्यापकोपदेशक, सभासेनाधीश, शिल्पी, जलपवन, अध्यापिकोपदेशिका आदि विभिन्न अर्थों को ग्रहण किया है। प्रस्तुत मंत्र में स्वामी जी ने "अश्विनौ" का अर्थ सूर्य, चन्द्रमा के रूप में किया है-

अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता। ऋतुना यज्ञवाहसा।।[3]

मन्त्र में सूर्य चन्द्रमा के कृत्यों का वर्णन किया गया है कि एक उष्ण रस से और दूसरा शीतल रस से संसार का कल्याण करता है और सबको व्याप्त किये हुए है, व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ से "अश्विनौ" सूर्य चन्द्रमा है।

निरुक्तकार आचार्य यास्क "अश्विनौ" की गणना द्युस्थानीय देवताओं में करते हैं।[4] ए.ए. मैक्डानल व ए.बी. कीथ भी इस पक्ष के पोषक हैं।

लुड्विग, हिलेब्राण्ड्ट और हार्डी ने "अश्विनौ" को सूर्य और चन्द्रमा के रूप में स्वीकार किया है, पर वेबर इनका तादूरूप्य मिथुन तारों (stars of Gemini) से करते हैं। मानहार्ट और ओल्डेनबर्ग लैटिन देवताओं के वर्णन में प्रातःकालीन और सायंकालीन तारों के उल्लेख में दोनों अश्विनौ को पृथक्-पृथक् प्रातःकालीन और सायंकालीन तारे मानते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में ये दोनों देव उषस् और अग्नि की तरह प्रातःकालीन देवता माने गए हैं।[5] वेदरहस्य में श्री अरविन्द लिखते हैं कि "अश्विनौ युगल घोड़े पर चढ़ने वाले, समुद्र में नाविकों की रक्षा करने वाले कैस्टर (castor) और पोलिडूसस (polydeuces)" हैं।[6] मैक्डानल के अनुसार ये देवता

1. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, 1.117.6, 1.116.7,
2. वही 1.15.11
3. ऋ., दयानन्द भाष्य 1.15.11, प्रकाशक-वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, अजमेर।
4. नि.12.1, श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न, प्रकाशक-आर्ष कन्या गुरुकुल, नरेला, दिल्ली
5. ऐ.ब्रा. 2.15, सायणाचार्य, प्रकाशक-तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
6. वेद रहस्य अ. 16. पृ. 215, अभयदेव विद्यालंकार, जगन्नाथ वेदालंकार (अनुवादक), प्रकाशक-श्री अरविन्द सोसाइटी, पांडिचेरी।

"धुंधलाप्रकाश और प्रातःकालीन तारे हैं।"[1]

रुद्रः-

ग्रिफिथकृत *"The Hymn of Rigveda Book-1"* में इस देवता की स्तुति केवल 2 सूक्तों में की गई है। ग्रिफिथ ने रुद्र देवता की अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। रुद्र को आकाश के घोर रूप लाल वर्ण वाले, जलधारी तथा महान् तेजस्वी रूप में वर्णित किया है।[2] एक बार इन्हें सूर्य के सदृश देदीप्यमान एवं सुवर्ण की तरह कान्तियुक्त कहा गया है।[3] अन्य देवताओं की भाँति रुद्र भी कपर्दिन अर्थात् केश रखते हैं तथा जटाओं से सुशोभित हैं।[4] ग्रिफिथ ने रुद्र को पशुपति माना है। जो पशुओं का स्वामी तथा संरक्षक है।[5]

ग्रिफिथ के ऋग्वेद भाष्य में रुद्र के *Lord of Sacrifice, Soma, Indu, Immortal one, God* आदि अर्थ ग्रहण किये हैं।

महर्षि दयानन्द ने रुदिर् अश्रुविमोचने से णिच् प्रत्यय करके रुद्र शब्द सिद्ध किया है- "यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः" अर्थात जो दुष्ट कर्म करने वाले को रुलाता है इससे परमेश्वर का नाम रुद्र है। उन्होंने उणादिसूत्र "रुदेर्णिलोपश्च" की व्याख्या में भी लिखा है "पापिनौ रोदयतीति रुद्रः"। परमात्मा ही पापियों को कर्मफल देकर रुलाता है।

स्वामी जी ने रुद्र शब्द के परमेश्वर, जीव, वायु, सभाध्यक्ष, अध्यापकोपदेशक, राजा, वैद्य आदि विभिन्न अर्थ प्रकरण के अनुसार ग्रहण किये हैं। इनसे पृथक् भी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। स्वामी जी रुद्र के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की कल्पना नहीं करते, अपितु जिन-जिन मन्त्रों में इसके शरीरावयवों, आयुधों आदि का वर्णन मिलता है वह आलंकारिक है।

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद भाष्य में रुद्र शब्द के परमेश्वर, जीव, वायु, दुष्ट शत्रुओं को रुलाने वाला, सभाध्यक्ष, न्यायाधीश, अधीतविद्यः आदि अर्थ ग्रहण किये हैं।

मैक्डानल रुद्र के संदर्भ में लिखते हैं- "यह मरुतों के पिता हैं। इन्होंने मरुतों

---

1. वैदिक देवशास्त्र पृ. 126, डॉ. सूर्यकान्त (अनुवादक), प्रकाशक-पाणिनी प्रकाशक व मुद्रक, अंसारी रोड़, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1961 ई.।
2. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, आर.टी.एच. ग्रिफिथ, ऋग्वेद 1.114'5
3. *He shines in splendour like the Sun,* वही 1.43.5
4. वही 1.114.1
5. वही 1.114.9

को पृश्नि के उज्जवल यशोधर से उत्पन्न किया।[1] बेवर यह विचार व्यक्त करते हैं कि प्राचीनतम काल में यह देव विशेषतः झंझावात के भीषण रव का व्यंजक था। विल्सन का विचार है कि रुद्र प्रत्यक्षतः अग्नि अथवा इन्द्र का ही रूप था। श्रोडर मूलतः रुद्र को मृतक आत्माओं का प्रधान मानते हैं जिनकी वायु के प्रबल वात की भाँति गतिशील होने के रूप में कल्पना की गई है। ऑल्डेनबर्ग की सम्मति में उत्पत्ति की दृष्टि से रुद्र सम्भवतः पर्वत और वन के एक देवता का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ से व्याधियों के बाण मानव समाज पर आक्रमण करते हैं।

सायण ने "रुद्राय" का "एतन्नामकाय देवाय"[2] तथा रुद्रः का "रौति शब्दायते तारकं ब्रह्म उपदिशतीति रुद्रः" शब्द ब्रह्मात्मना रोरूपमाणो द्रवति सर्वप्राणिहृदये वर्तत इति वा, अस्त्रेण छिन्नशिरसा शावन्तं प्रजापतिम् .... स्वयमचि शोकवशाद् अरोदीद् इति वा, उत्पत्ति काले स्वयम् अरुदद् इति वा अर्थ किये हैं। सायण ने एक स्थल पर रुद्र का अर्थ परमेश्वर भी किया है- "रुत् दुःख दुःखहेतुर्वा तस्य द्रावको देवा रुद्रः परमेश्वर"।[3] अन्यत्र वे इसका अर्थ महादेव भी करते हैं।[4]

भट्टभास्कर ने "रुद्रः" का अर्थ "अग्निर्वा रोदयिता रुद्रः"[5] "रोदयिता अन्तकाले विश्वस्य"[6] तथा "रुद्राय" का "आरूण केतुकस्य अग्ने"[7] किया है।

मरुत्-

मरुतों की प्रशस्ति में ग्रिफिथकृत ऋग्वेद भाष्य में 10 सूक्त उपलब्ध होते हैं।

मरुतों के जन्म सम्बन्धी विवरण भी अत्यधिक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं, इनकी माता का नाम पृश्नि है इसलिए इन्हें ***"Prsni's sons"***[8] (पृश्निमातरः) कहा जाता है। तथा साथ में इनके प्रधानगुण उग्रता का भी वर्णन मिलता है। प्रायः इन्हें रुद्रगण या रुद्र के पुत्र होने से ***"Sons of Rudra"***[9] (रुद्रपुत्र) विशेषण से सुशोभित किया है। इसके विपरीत इन्हें स्वयं उत्पन्न भी माना गया है। ऋ. 1.168.2 मंत्र में

---

1. वैदिक माइथोलॉजी पृ. 145-146, मैक्डॉनल, वाराणसी, 1963 ई.
2. ऋग्वेद 1.40.1, सायणाचार्य, प्रकाशक-वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
3. अथर्व. 12.1.3 तथा ऋग्वेद 1.114.4
4. ऋग्वेद 2.34.2, सायणाचार्य, प्रकाशक-वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
5. तै.आ. भाग-1, पृ.-77, सायण भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1897ई0
6. तदेव भाग-2, पृष्ठ-117
7. तदेव भाग-1, पृ.-35
8. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, आर.टी.एच. ग्रिफिथ, ऋग्वेद 1.23.10
9. वही 1.38.7

स्वयं उत्पन्न (*Self Born*) शब्द इनकी स्वयमेव उत्पत्ति को स्पष्ट करता है। मरुतों के विषय में कहा गया है कि सब एक दूसरे के भाई हैं और समान आयु के हैं।[1]

मरुत् की महानता का वर्णन करते हुए ऋ. 1.165.9 में कहा गया है कि हे मरुतों! तुम्हारे सदृश न कोई देवता न विद्वान् उत्पन्न है, और न होगा अर्थात् तुम महान् हो।[2]

मरुतों की दानशीलता अत्यन्त प्रशंसनीय है। इनकी दानशीलता का वर्णन ऋ. 1.13.2 में किया गया है।

ग्रिफिथ के ऋग्वेद भाष्य में मरुत के ***Self luminous, Shaker of the earth and Heaven, Son of Rudra, Consumer of foes, Bounteous, Demon slayer, Lord of all riches, Active one*** आदि विशेषण ग्रहण किये हैं।

स्वामी दयानन्द ने मरुत् शब्द का परमात्मा वाचक निर्वचन नहीं किया परन्तु इनकी मान्यता है कि समस्त जड़ चेतन परमेश्वर के आश्रय में रहते हैं, इसलिए मुख्य अधिष्ठाता "मरुतों" को भी गति देने वाला एक वही है। महर्षि दयानन्द के ऋग्वेद भाष्य में मरुत् शब्द के दिव्यगुणैर्देवैः सह, वायुवच्छीघ्रं गमनकारिणो जनाः, विद्वांसः, ऋत्विजः, वायवः, सभाध्यक्षादयः, प्राण इव वर्त्तमानाः आदि अनेक अर्थ ग्रहण किये हैं।

आचार्य यास्क मरुतों का स्थान मध्यस्थानीय मानते हैं।[3] ए.बी. कीथ इसकी गणना अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में करते हैं। कुन, बैन्फै, इ.एच. मेयर, श्रोडर और हिलेब्रान्ट आदि सब इस मत के समर्थक हैं।[4] "वैदिक देवशास्त्र" के प्रणेता ए.ए. मैक्डानल भी मरुतों को अन्तरिक्ष स्थानीय देवता मानते हैं। जे. मूइर इन्हें झंझावत के देवता मानते हैं। प्रो. रॉथ ने नि. 10.39 में इसे चितकबरे मेघों का द्योतक माना हैं।[5] ऋग्वेद 1.39.6 मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य इन्हें तीव्रगामी हिरण अथवा हिरनियों के आगे सन्नद्ध अर्थ में ग्रहण करते हैं।

---

1. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद 1.165.1
2. वही 1.165.9
3. निरुक्त 11.12, श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न, प्रकाशक-आर्ष कन्या गुरूकुल, नरेला, दिल्ली।
4. वैदिक धर्म एवं दर्शन पृ.-189, डॉ. सूर्यकान्त (अनुवादक), प्रकाशक- सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपरा, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1963ई.
5. ऑरिज. संस्कृत टेक्स्ट्स 5, पृ. 157 टिप्पणी से, रामकुमार राय (अनुवादक सम्पादक), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

सूर्यः-

सूर्य देवता की प्रशस्ति में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में केवल दो ही सूक्त हैं। इनकी व्याख्या में ग्रिफिथ ने बताया है कि पूर्व दिशा में सूर्य उगता है वे सारे संसार को देखते हैं और अदृष्ट विषधरों का विनाश करते हैं। सूर्य की एक अन्य विशेषता है कि यह उषाओं को स्पर्श करके उदय होता है। अन्य देवताओं की भाँति सूर्य ने भी अपने नेत्रों से प्रशंसा प्राप्त की है अर्थात् नेत्र ही इसकी विशेषता को बढ़ाने वाले हैं। नेत्रों का विवरण ऋग्वेद में बहुधा पाया जाता है। एक स्थल पर सूर्य को मित्र, वरुण और अग्नि का नेत्र कहा गया है-[1] एक स्थान पर सूर्य को आत्मा भी माना गया है।[2]

आर.टी.एच. ग्रिफिथ के ऋग्वेद भाष्य में सूर्य के *God, All beholding sun, Brilliant, Farseeing one, Rich in friends, Aditya* आदि अर्थ ग्रहण किये हैं।

महर्षि दयानन्द ने सूर्य का निर्वचन नहीं किया है, अपितु इसके ईश्वरपरक निर्वचन के लिए निर्देश अवश्य दिया है- '*सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च*' इस यजुर्वेद के वचन से जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते-फिरते तस्थुषः अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ पदार्थ पृथ्वी आदि हैं उन सबके आत्मा होने से और स्वप्रकाश स्वरूप सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम सूर्य है। स्वामी दयानन्द के ऋग्वेद भाष्य में सूर्य शब्द के सवितृलोकम्, सर्वप्रकाशक सर्वात्मन्, चराऽचरात्मन्, ज्ञानस्वरूप ज्ञानप्रापक वा, सवितेव ज्ञान प्रकाशः, जगदीश्वरः आदि अनेक अर्थ ग्रहण किये गये हैं।

आचार्य सायण ने 'सूर्य' का अर्थ 'मार्तण्डः सर्वस्य प्रकाशको देवः'[3] 'सर्वस्य वातस्य प्रेरको देवः' 'सर्वस्य जातस्य प्रेरको देवः,'[4] 'सर्वस्य प्रेरयिता द्युस्थानाधिपतिः सविता'[5] 'सर्वस्य प्रेरकम् आदित्यम्'[6] 'सर्वस्य प्रेरकः आदित्यः'[7] 'सरसि गच्छति सततम् इति वा सुवति प्रेरयति स्वोदयेन सर्व प्राणि-जातम् स्वस्वव्यापारे इति वा

---

1. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, आर.टी.एच. ग्रिफिथ, ऋग्वेद 1.115.1
2. वही 1.115.1
3. अथर्व. 1.9.2, (सायणाचार्य), विश्वबन्धुशास्त्री (सम्पा.), प्रकाशक-विश्वेवरानन्द, वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर।
4. वही 1.29.5
5. वही 2.10.4
6. का.स. 24.18, दामोदर सातवलेकर (सम्पादित), प्रकाशक-स्वाध्यायमण्डल, भारत मुद्रणालय पारड़ी नगर, चतुर्थ संस्करण, 1983 ई.
7. का.स. पृ. 111 तथा अथर्व 11.6.12 ; 19.17.5 सायण भाष्य ।

सूर्य'[1] किया है। मैक्डानल सूर्य के संदर्भ में लिखते हैं–"यह सूर्य दूर-दूर तक देखने वाला सर्वदर्शी, संसार का गुप्तचर और सभी प्राणियों तथा मनुष्यों के पाप पुण्य का अवलोकन करने वाला है"।[2] भट्टभास्कर ने 'सूर्य' का अर्थ 'सविता अनुज्ञाता सविता प्रेरयिता विश्वस्य उत्पादयिता वा' किया है।[3]

श्री अरविन्द लिखते हैं–"सूर्य परम सत्य और ज्ञान का अधिदेवता है और उसकी किरणें वह प्रकाश है जो उस परम सत्य ज्ञान से निकलता है"।[4]

सरस्वती:-

सरस्वती देवी की आराधना सम्पूर्ण ऋग्वेद में तीन सूक्तों में की गई है।

ग्रिफिथ ने मन्त्र-पदों के आधार पर ऋ. 1.3.10 के भाष्य में सरस्वती को सब प्रकार से पवित्र करने वाली एवं अन्न आदि की दात्री कहा है।

ऋ. 1.3.11 में इसको प्रेरणा दात्री और धार्मिक विचारों को देवज्ञान से उत्पन्न करने वाली बताया गया है। यह देवी सबकी बुद्धियों में विशेष प्रकाश करने वाली है। उपरोक्त वर्णन से इसे प्रकाश की देवी भी कह सकते हैं क्योंकि यह सबकी बुद्धि से अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करके ज्ञान रूपी प्रकाश प्रदान करती है।

ग्रिफिथ के ऋग्वेद भाष्य में सरस्वती शब्द के *inviter of all pleasant, impires of all, Wealthy in spoi* आदि विशेषण अर्थ ग्रहण किये है।

महर्षि दयानन्द ने ऋ. 1.3.10 में सरस्वती को पवित्र करने वाली, अन्न की दात्री एवं प्रेरणा की देवी माना है। "*धियोविश्वा वि राजति*" ऋ. 1.3.12 के अनुसार यह देवी सबकी बुद्धियों में विशेष प्रकाश डालने वाली है। ऋग्वेद के एक मंत्र में उल्लेख किया है कि सरस्वती! आप माताओं में, नदियों में और देवियों में सबसे प्रशंसनीय हो। स्वामी दयानन्द इस पद का मुख्य अर्थ परमेश्वर करते हैं।

स्वामी दयानन्द के पूर्ववर्ती वेदभाष्यकार सायण का मानना है कि "द्विविधा हि सरस्वती विग्रहवद्देवता नारीरूपा च" ऋ. 1.3.12 अर्थात् सरस्वती को दो देवियों के रूप में विभक्त किया गया है:- 1. नारी रूप में, और 2. मूर्तिमान् देवता के रूप में।

---

1. अथर्व. 17.1.6 सा.भा.
2. वै. मा., पृ.-55, मैक्डॉनल, वाराणसी, 1963 ई.
3. तै.आ. भाग-2, पृ.-136, सायण भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1897 ई.
4. वेद रहस्य पृ.-18, अभयदेव विद्यालंकार, जगन्नाथ वेदालंकार (अनुवादक), प्रकाशक- श्री अरविन्द सोसाइटी, पांडिचेरी।

ए.ए. मैक्डानल इनकी गणना पार्थिव देवताओं के अन्तर्गत करते हुए इसे एक नदी के रूप में मानते हैं। महर्षि अरविन्द के मतानुसार "नदी सरस्वती विद्या और प्रसन्नता की देवी बन गई"।[1] आचार्य यास्क इसकी गणना मध्यम स्थानीय देवताओं में करतें हैं तथा इसका अर्थ वाणी, नदी आदि करते हैं। ऋग्वेद भाष्यकार स्कन्दस्वामी भी सरस्वती को 'मध्यम स्थानीयवाक्'[2] मानते हैं अर्थात् इसकी गणना मध्यम स्थानीय देवताओं में करते हैं। ए.बी. कीथ सरस्वती को पृथ्वी स्थानीय देवता मानते हैं और नदियों में इसकी गणना करते हुए लिखते हैं "ऋग्वेद में सरस्वती नदी एक देवी है"।[3]

✦✦✦

---

1. वेद रहस्य पृ0-38
2. ऋ. 1.3.10 स्कन्द भाष्य, सी.कुन्हन राजा (सम्पा.), मद्रास यूनिवर्सिटी, 1935 ई.
3. दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद, आर.टी.एच. ग्रिफिथ, ऋग्वेद 1.3.12

वेदों में धर्म की अवधारणा

–डॉ. बबलू वेदालंकार

तदर्थ फैकल्टी, दर्शन शास्त्र विभाग,
गु.कां.वि.वि., हरिद्वार

धर्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है–धारण करना। अर्थात् जो धारण करता है या किसी वस्तु का अस्तित्व बनाये रखता है वही धर्म है।[1] सामान्य भाषा में धर्म शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है–स्वभाव, कर्तव्य, गुण, सत्कर्म, सत्य, ईमान, सम्प्रदाय, कानून, पुण्य।[2]

धर्म की मौलिकता की चर्चा करते हुए मनुस्मृति में सम्पूर्ण वेद को धर्म का मूल माना गया है।[3] महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को सर्वशक्तिमान् परमेश्वर द्वारा उत्पन्न मानते हुए कहा है कि "जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (अङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं।[4] अर्थात् ये किसी मनुष्य द्वारा रचित नहीं अपितु परमात्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। उन्होंने वेदों की उत्कृष्टता को बताते हुए कहा है कि "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।[5] यह बात भी सर्वविदित है कि समकालीन विद्वानों ने भी वेद को संसार का प्रथम ग्रन्थ माना है।

ऋग्वेद में धर्म को न्याययुक्त सत्याचरण व समन्वित विकास के रूप में स्पष्ट करते हुए कहा है कि परमेश्वर हम सभी के लिए धर्म का उपदेश करता है

---

1. बदिष्टे, डॉ. डी.डी.–*भारतीय दार्शनिक निबन्ध*, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, द्वितीय संस्करण, पृ.31
2. वही, पृष्ठ 30
3. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। मनुस्मृति 2–6
4. सरस्वती, दयानन्द, *ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका*, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 11वां संस्करण, 2012 पृ.8
5. आर्य समाज के नियम–संख्या 8

कि, हे मनुष्य लोगों! जो पक्षपात रहित न्याय सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो, किन्तु उसी की प्राप्ति के लिए विरोध को छोड़कर परस्पर सम्मति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता रहे और किसी प्रकार का दुःख न हो। सत्य विद्या से युक्त ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिए, अधर्म का नहीं।[1]

धर्म की समानता, व्यापकता व उपयोगिता की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि हे मनुष्य लोगो! जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य-असत्य का विचार है, वह समान हो, उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो और जब-जब तुम लोग मिल के विचार करो, तब सबके वचनों को अलग-अलग सुनकर जो-जो धर्म युक्त और जिसमें सबका हित हो सो-सो सब में से अलग करके उसी का प्रचार करो, जिससे तुम सभी का बराबर सुख बढ़ता रहे।[2] आगे कहा गया है कि 'हे मनुष्य लोगों! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है, उसको धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो। निश्चय, उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को 'आकूति' कहते हैं। हे मनुष्य लोगों! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिए सदा हो, जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो और वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेम सहित और विरोध से अलग रहें।[3]

यजुर्वेद में भी धर्म को सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है कि जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है। सो इस प्रकार से है कि हे मनुष्य लोगों! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसे ही सत्य अर्थात्

---

1. सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
   देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
   ऋग्वेद मण्डल 10/सूक्त, 191/मन्त्र 2 का दयानन्द भाष्य।
2. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
   समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
   ऋग्वेद मण्डल 10/सूक्त 191/मन्त्र 3 का दयानन्द भाष्य।
3. समानी आकूतिः समाना हृदयानि वः।
   समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।
   ऋग्वेद मण्डल 10/सूक्त 191/मन्त्र 4 का दयानन्द भाष्य।

जो वेद शास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो वा की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण से सब दिन प्रीति रक्खो और जो-जो तुम लोगों के लिए मेरी आज्ञा है, उस उस में अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो।[1] यजुर्वेद में आगे धर्म को ईश्वरीय, सभी मनुष्यों के उत्थान और प्रेम को बढ़ाने के लिए बताते हुए कहा है कि हे सत्यपते परमेश्वर! मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान करना चाहता हूँ, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से हो सकती है। मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं। उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो। सो कृपा से सत्य रूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिए। सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूँ। उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण में सदा दृढ़ रहूँ।[2]

यजुर्वेद में सत्य धर्म का आचरण करने से होने वाले फलों को बताते हुए कहा गया है कि "जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं, क्योंकि धर्म आदि शुभ गुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त करता है अन्यथा नहीं। जब ब्रह्मचर्यआदि सत्यव्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है, क्योंकि सत्य धर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है। फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिए सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थों को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायें, जिससे सत्य-धर्म की यथावत् प्राप्ति हो।[3]

---

1. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
   अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः।।
   यजुर्वेद अध्याय 19/मन्त्र 77 का दयानन्द भाष्य।
2. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
   इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।। यजुर्वेद अध्याय 1, मन्त्र 5, स्वामी दयानन्द भाष्य।
3. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
   दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।
   यजुर्वेद अध्याय 19, मन्त्र 30, स्वामी दयानन्द भाष्य।

अर्थववेद में भी धर्म के सन्दर्भ में मन्त्र मिलते हैं। इसमें मनुष्य को धार्मिक जीव मानते हुए कहा गया है कि "जो परम प्रयत्न करना और जो धर्म का आचरण करना है, इसी धर्म से युक्त मनुष्य की रचना ईश्वर ने की है। इस कारण से ब्रह्म जो वेद विद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने-अपने ज्ञान को बढ़ावें। सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म सत्यविद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभ गुणों का सेवन करें।"[1] आगे कहा है कि "सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों। हे मनुष्य लोगों! तुम शुभ गुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्ति राज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होकर, शोभारूप श्री को सिद्ध करके उसको चारों और पहिनके शोभित हो, सब मनुष्य को उत्तम गुणों को ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिए।[2]

अथर्ववेद में परोपकार, सत्याचरण और विकासवादी दृष्टिकोण से भी धर्म को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि "सभी प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों को धारण करें। इस अमृतरूप व्यवहार से सदायुक्त हों। सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्प विद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें। जब तक तुम लोग जीते रहो। तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो किन्तु इसमें आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिए है।"[3] आगे कहा है कि "धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, भयरहित होकर दीनता से दूर रहना। सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़कर सत्य धर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, ब्रह्मचर्यादि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण करना। जो मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां हैं, उनको पाप कर्मों से रोककर सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, चक्रवर्ति राज्य की सामग्री को सिद्ध करना, जो वेदोक्त न्याय से युक्त होकर, पक्षपात को छोड़कर सत्य का

---

1. श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता।।
   अथर्व. काण्ड 12 / सूक्त 5 / मन्त्र 1, दयानन्द भाष्य।
2. सत्येनावृताश्रिया प्रावृता यशसा परीवृता।।
   अथर्व. काण्ड 12 / सूक्त 5 / मन्त्र 2, दयानन्द भाष्य।
3. स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्य्यूढ़ा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोकोनिधनम्।।
   अथर्व. काण्ड 12 / सूक्त 5 / मन्त्र 3, स्वामी दयानन्द भाष्य।

सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है तथा जो सबका उपकार करने वाला और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को धर्म और उससे उलटा करने को अधर्म कहते हैं।"[1]

अथर्ववेद में धर्म को कर्म के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया है कि "सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उनसे विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिए कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें। सब कर्मों में चतुरता, शूरवीरता, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रिय वर्ण का अधिकार देना। वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच करना, उसकी रक्षा आदि करना। सत्य विद्याओं के प्रकाश के लिए अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने-पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिए। सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिए।[2] इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि "वीर्य्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना तथा युक्ति पूर्वक ही भोजन और वस्तु आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उम्र को सदा बढ़ाओ। अत्यन्त विषय सेवन से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर सदा उत्तम रखना। उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिए, जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मो में उत्साह हो। श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिससे तुम्हारा भी यश बढ़े। योगाभ्यास से निरोग व बुद्धि को बढ़ाओ। प्रमाणादि से सत्य का शोधन करके ग्रहण करो।[3] आगे कहा गया है कि "जो पय अर्थात् दूध, जल आदि और रस अर्थात् शक्कर, औषधि और घी आदि हैं, इनको वैद्यकशास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो। उसी प्रकार भोजन करें। ऋत नाम जो ब्रह्म का है उसी की सदा उपासना करनी चाहिए। जैसा कि हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिए। इन मन्त्रों

---

1. ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं य श्रीश्च धर्मश्च।।
अथर्व. काण्ड 12 / सूक्त 6 / मन्त्र 1 / स्वामी दयानन्द भाष्य।
2. ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्चत्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च।।
अथर्व. काण्ड 12 / सूक्त 6 / मन्त्र 2 / स्वामी दयानन्द भाष्य।
3. आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च।।
अथर्व. काण्ड 12 / सूक्त 6 / मन्त्र 3 / स्वामी दयानन्द भाष्य।

में अनेक चकारों का यह भी प्रयोजन है कि सब मनुष्य लोग धर्म के अन्य भी शुभ लक्षणों का ग्रहण करें।[1]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेद में धर्म की अवधारणा तार्किक और वैज्ञानिक है। इसमें व्यक्ति स्वयं के विकास के साथ-साथ सम्पूर्ण मानव जाति के विकास के लिए कर्म करता है। ऐसे कर्मों को ही धर्म कहा जाता है। इनके विकास की अवधारणा सम्पूर्णता में है अर्थात् भौतिक विकास तथा अध्यात्मिक विकास। इसी धर्म की अवधारणा को वैशेषिक दर्शनकार ने भी स्वीकार करते हुए कहा है कि भौतिक व आध्यात्मिक विकास ही धर्म है।[2] अर्थात् वे सभी कर्म धर्म हैं, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति व समाज का भौतिक व आध्यात्मिक विकास होता है। इनकी परीक्षा तार्किक व वैज्ञानिक आधार पर की जा सकती है। इस अवधारणा को वर्तमान में प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों के विरोध के कारण उत्पन्न अमानवीय विभीषिका, हिंसा आदि को भी समाप्त कर वैदिक धर्म की अवधारणा से मानव समाज को सम्पूर्ण कल्याण की ओर ले जाया जा सकता है। जिसमें किसी मिथक, रहस्यवाद आदि आडम्बरों की आवश्यकता नहीं अपितु विज्ञान व तार्किक बुद्धि के द्वारा इसे सम्पूर्ण समाज के व्यक्तियों की सहमति व संगठित प्रयास से प्राप्त किया जा सकता है। अतः वैदिक धर्म समस्त संसार की समस्याओं का समाधान कर व्यक्ति व समाज को भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति से युक्त सुन्दर समाज की कल्पना को साकार कर सकता है।

✦✦✦

---

1. पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च।।
   अथर्व. काण्ड 12 / सूक्त 6 / मन्त्र 4 / स्वामी दयानन्द भाष्य।
2. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।। वैशेषिक सूत्र 1/2/2

वेदों में पुनरुक्ति : पाश्चात्य विद्वान् जे. खोंदा* का अभिमत

–प्रेम प्रकाश लाल, शोधार्थी

(वेदविभाग)

–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

विभागाध्यक्ष (वेद विभाग),

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों में पुनरुक्ति के सम्बन्ध में अपने विभिन्न अभिमत देते हुए अनेक प्रकार से आक्षेप भी किए हैं। आक्षेपकर्ताओं में मुख्य रूप से मोरिस ब्लूमफील्ड का नाम आता है। अन्य पाश्चात्य लेखक जे. खोंदा जो हालैण्ड के विद्वान् थे, ने वेदों में पुनरुक्ति को शैलीगत बताया है। जे. खोंदा कृत Stylistic Repetition in the Veda ग्रन्थ में अनेक भाषाओं जैसे–ग्रीक, फ्रेंच, जर्मन इत्यादि के उद्धरण उन्हीं भाषाओं में अंकित होने के कारण उनके सही तात्पर्य का ज्ञान नहीं हो पाता है, परन्तु आभास होता है कि वैदिक शैली के समर्थन के साथ-साथ अप्रत्यक्ष रूप से इन्होंने कहीं-कहीं आक्षेप भी किया है। जे. खोंदा ने वेद-मन्त्रों के उद्धरण के साथ-साथ अनेक उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, महाभारत, गीता, वाल्मीकि रामायण तथा अनेक विदेशी ग्रन्थों आदि के भी उद्धरण बहुतायत में दिए हैं। श्री खोंदा ने अन्य भाषाओं की पद्यात्मक शैली से वैदिक मन्त्रों की शैलियों की तुलना की है, तथा वेद मन्त्रों में प्रयुक्त विभिन्न अलंकारों, शब्दों, वाक्यों आदि का सूक्ष्म परीक्षण किया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य और भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में वेदमंत्रों की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। श्री खोंदा द्वारा लिखित उक्त ग्रन्थ के आधार पर ही इस निबन्ध में हम वैदिक पुनरुक्ति-सम्बन्धी उनके विचारों का पल्लवन कर रहे हैं। जे. खोंदा के अनुसार उनके ग्रन्थ का सार यह है कि वेदों में प्रयुक्त अधिकांश पुनरुक्तियाँ वेदों की शैलीगत विशिष्टता की द्योतक हैं।

---

* हालैण्ड निवासी इस विद्वान् लेखक को अंग्रेजी भाषा में J.Gonda लिखा जाता है, परन्तु हालैण्ड की अपनी भाषा में जे. खोंदा बोला जाता है (सम्पा.)।

उक्त ग्रन्थ के 25 अध्यायों में निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत जे. खोंदा के पुनरुक्ति विषयक विचार इस प्रकार हैं–

अध्याय–1

भूमिका

अपने ग्रन्थ की भूमिका में अन्य पाश्चात्य विद्वानों पिशेल, गेल्डनर और वर्गेनी के सम्बन्ध में श्री खोंदा ने लिखा है कि इन्होंने ऋग्वेद को साहित्य का स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं माना है। उसी संदर्भ में श्री काण्डे, भारतीय विद्वान् का सन्दर्भ देते हुए लिखा है कि श्री काण्डे ने अपने लेख 'अलंकार साहित्य के इतिहास की रूपरेखा – Outlines of history of Alankāra literature' में लिखा है कि बिना रूपक और उपमा के कोई भाषा आगे नहीं बढ़ सकती। और यह असामान्य अलंकार (फीगर्स आफ स्पीच) वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध है, इस हेतु उन्होंने निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है–

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्त्रेव निरिणीते अप्सः।।

ऋग्. 1.124.7

1. भ्रातृहीन युवती अपने पतिगृह से लौटती हुई पिता से इष्ट–आभूषणादि प्राप्त करती है, उसी प्रकार यह उषा भाई के न रहने से पितृस्थानीय सूर्य से ही प्रकाश प्राप्त करने के लिए उपस्थित होती है।
2. जैसे कोई युवती अपने अंशभूत धनों को प्राप्त करने के लिए (गर्तारुक्) न्यायाधिष्ठान का आरोहण करती है, उसी प्रकार यह उषा प्रकाशरूप धन की प्राप्ति के लिए अपने पितृभूत सूर्य के गृह इस आकाश में आरूढ़ होती है (गर्त–गृह, न्यायाधिष्ठान)।
3. सूर्य से प्रकाश प्राप्त करके (सुवासाः) प्रकाशरूप उत्तमवस्त्र वाली यह उषा (हस्रा इव) हंसती हुयी सी (अप्सः) अपने उज्ज्वल रूप को (निरिणीते) प्राप्त करती है, हमारे प्रति प्रकाशित करती है, उसी प्रकार (इव) जैसे कि (उशती जाया पत्ये) कामायमाना पत्नी पति के लिए रूप को प्रकट करती है।

   इस मन्त्र में 4 रूपक हैं।

उसी प्रकार ऋग्वेद के मन्त्र सं. 1.164.20 में रूपक और मन्त्र सं. 4.58.3 में अतिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है।

वेद मंत्रों के अन्दर ये शैलीगत विशेषताएँ सामान्य रूप से पायी जाती हैं- इन विशेषताओं को अलंकारिक (Rhetoric, figures of Speech) कहा गया है।

जब कोई कवि किसी वस्तु या घटना को ठीक उसी रूप में वर्णन करता है, तब उसे स्वाभाविक कहा जाता है, परन्तु जब उसमें विशेष प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है तब वह कृत्रिम हो जाता है। प्रभावोत्पादकता हेतु शैलीगत अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। इन शैलीगत अलंकारों का प्रयोग गद्य की अपेक्षा पद्यों में किया जाता है क्योंकि पद्यों में कृत्रिमता होती है। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि वैदिक कवियों ने उन उपकरणों (विधियों) का पर्याप्त संख्या में प्रयोग किया जिन पर तत्समय प्रयुक्त अलंकार आधारित हैं। श्री खोंदा ने इस ग्रन्थ में आधुनिक शैलीगत विज्ञान के सापेक्ष प्राचीन भारतीय शैलीगत परिदृश्य को समझने का प्रयास किया है। आधुनिक शैलियाँ मात्र शब्दों का चयन, उनका क्रम और उनकी व्युत्पत्तियाँ नहीं है बल्कि वाक्यविज्ञान (Syntax), पदविज्ञान (Morphology) और ध्वनि विज्ञान (Phonetics) पर आधारित है। संक्षेप में उच्चरित अथवा लिखित प्रकटीकरण शैलीगत अनुसंधान के विषय हैं। जे. खोंदा ने भूमिका के अन्तिम परिच्छेद में लिखा है कि प्राचीन भारतीय मूल ग्रन्थों को पढ़ने, अध्ययन करने में अत्यन्त कठिनाई होती है क्योंकि तत्कालीन भाषा का सीधा ज्ञान नहीं रहता, लिखित साहित्य के बचे अंश, जो कि बहुत बृहद् हैं, प्राचीन भारतीय साहित्य का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व नहीं करते, वे भी तकनीकी रूप से दुर्बोध हैं और इन साहित्यों का आधार आज से भिन्न है, इनके शब्दकोशों को पूर्णतया समझना कठिन है। फिर भी व्यवस्थित विधि से पूर्व सावधानी बरतते हुए इन विषयों पर अनुसंधान कार्य किया गया है और कुछ दिलचस्प प्रकरणों को प्रकाश में लाया गया है। इससे प्राचीन साहित्यों को समझने में कुछ सरलता होगी और उन व्यक्तियों की मानसिकता को भी समझा जा सकता है, जिन्होंने इन साहित्यों का सृजन किया है। इससे तुलनात्मक और सामान्य शैली हेतु महत्वपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है जो भारतीय मस्तिष्क की अन्तर्दृष्टि को समझने में सहायक होगा, और विश्व के उल्लेखनीय भाषा विज्ञान का अध्ययन हो सकेगा। वैदिक शैली और बाद के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से संस्कृत भाषा का इतिहास और भारतीय साहित्य के अध्ययन में उपयोगी होगा।

अध्याय-2

समतुल्य रचनाओं में मूल और पुरातन शैली पर सामान्य अध्ययन

जे. खोंदा द्वारा उल्लिखित तथ्यों का सारांश निम्न प्रकार है-कभी-कभी गद्य और छन्दोबद्ध विषय इस प्रकार मिले होते हैं कि यह निर्णय करना कठिन होता है

कि ये अव्यवस्थित गद्य हैं या अव्यवस्थित काव्य/छन्द, और अच्छे छन्द में कपटपूर्वक क्षेपक भर दिए गए हैं। कभी-कभी कोई पद या उनके अन्य अर्थों के पद एक ही सूक्त में या अन्य स्थानों में इस प्रकार पुनरावृत्त किए गए हैं कि वे (सूक्त) समरूप होते हुए भी उनके अर्थों में क्रमबद्धता और सम्बद्धता नहीं रहती है। ये श्लोक/छन्द मात्र धार्मिक महत्व के होकर कुछ सुन्दर करने की अभिलाषा से लिखे गए हैं। ये विभिन्न सामाजिक-धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए तत्कालीन संस्कृति के भाग हैं।

भारतीय साहित्य में विभिन्न पदों का समानान्तर, समरूप और समतुल्य होना देखा जाता है-जैसे-

पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते।

ऋ. 1.5.2

पदों में परस्पर समरूपता। पुरुतमम्-सर्वाधिक उस पालक प्रभु का गायन करना। पुरुणाम्-(पृ पालन पूरणयोः) पालकों में, ईशानम्-स्वामी का कीर्तन करना, वार्याणाम्-वरणीय धनों के, इन्द्रम्-परमैश्वर्यशाली, सोमे सुते-सोम का अभिषव करने पर, सचा-उस प्रभु से मेल होना।

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥ अथर्ववेद 1.24.3

सरूपा नाम-सरूपा नाम वाली (पृथिवी), सरूपः नाम-सरूप नाम वाला (सूर्य), सरूपकृत्-समस्त त्वचा को समान रूप करने वाली, इदं सरूपं कृधि-हमारे इस शरीर को सरूप बना दे।

ऐसे प्रसंग जिसमें सम्भाषणकर्ता स्वयं उत्तर नहीं देता, कुछ ठहराव के बाद उन्ही पूर्व शब्दों/पदों की पुनरावृत्ति करते हुए उत्तर देता है, उदाहरण-बृह.उपनिषद् 2. 1.16

किसी तथ्य को स्पष्ट करने हेतु वक्ता शब्दों/वाक्यों की पुनरावृत्ति करता है, जिससे श्रोता के मस्तिष्क में ठीक प्रकार बैठ जाय, यह वक्तव्य की स्वाभाविक शैली है।

आदिम काल में जब मनुष्य सामाजिक रूप में नहीं रहता था उस समय मानव कर्त्तव्य एवं धर्म को समझाने हेतु अनेक बार शब्दों/वाक्यों की पुनरावृत्ति आवश्यक थी और इसी अनुसार वक्ताओं ने वेद-मन्त्रों को मानव समाज में प्रसारित किया। यह माना जाता है कि पद्य तत्काल की रचना होती है अतः पुनरुक्ति (कुछ शब्दों/वाक्यों का) स्वाभाविक है, इससे वक्ता और श्रोता दोनों को याद रहता है।

प्रार्थनाओं, अभिचार मन्त्रों, शाप युक्त वचनों, प्रशंसा, संस्कार मन्त्रों, पौराणिक कथाओं में मंत्रपाठ, धार्मिक विधियों और अन्य कर्मकाण्डों के अवसर पर शब्दों/वाक्यों की पुनरुक्ति एक स्वाभाविक क्रिया है। इस अवसर पर शब्द रचना कर सम्भाषण करना महत्वपूर्ण होता है, तथा तुकान्त पद्य, अनुप्रास, स्वरों में एकता सम्बन्धी पुनरुक्ति होती रहती है।

एक वाक्य का बार-बार आना और उनका पर्यायवाची शब्दों द्वारा विस्थापन भाषाविज्ञान के अवरोध के कारण होता है। पुनरुक्ति वक्ता के भाव, तनाव और उत्तेजना के कारण हो सकता है। एक शब्द की बार-बार पुनरावृत्ति कुछ परिस्थितियों में वक्ता के अल्पज्ञान, अल्पकल्पनाशक्ति, भाषा के अपूर्ण ज्ञान के कारण किसी शब्द/वाक्य पर बल देकर बोलने, कारुणिक और प्रेरक भाव व्यक्त करने से होती है जिससे श्रोता की दिलचस्पी बढ़ती है, परन्तु यह उचित नहीं है जैसे-

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्।
हव्यवाहं पुरुप्रियम्।। ऋ. 1.12.2

प्रभु विश्पति, हव्यवाह और पुरुप्रिय हैं। उस अग्नि नाम वाले प्रभु को ही मेधातिथि (समझकर चलने वाला) लोग पुकारते हैं।

इसमें पुनरुक्ति भावनात्मक है जो अग्नि को सम्बोधित है, जिसमें आर्त स्वर, भय और ईश्वर द्वारा सुने जाने की इच्छा है।

अध्याय-3

समतुल्य रचनाऐं और समरूप शब्द-समूह

जे. खोंदा के कथन का सारांश निम्न प्रकार है-

वेदों के छन्दोबद्ध मन्त्रों में संतुलित जोड़े (2-2) शब्दों का प्रयोग प्रायः हुआ है-जैसे निम्न मन्त्रांशों के अवलोकन से ज्ञात होता है-

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्ये। अथर्ववेद 1.17.2

सब नाड़ियों में चलने वाले रुधिर-प्रवाह को रोककर शल्य चिकित्सा करें।

ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन। अथर्ववेद 4.6.7

राजा विविध प्रकार से विष देने वालों को दण्डित करे। विषोत्पत्ति स्थानों पर सामान्य लोगों के आने जाने को निषिद्ध कर दे।

संगच्छध्वं संवदध्वं। ऋ. 10.191.2

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम्।। अथर्व. 6.88.1

द्युलोक, पृथिवीलोक, पर्वत व अन्य सब संसार के पिण्ड ध्रुव हैं। यह राजा भी ध्रुव हो।

लक्ष्य और विषय में अन्तर के कारण शैली में परिवर्तन पाया जाता है। एक ही अर्थ तत्व (Semantics-भाव) को समान रखते हुए, पदों में कुछ परिवर्तन कर पादों के आकार की पुनरावृत्ति कर पादों में समानान्तरता की जाती है जैसे- **"वायुः प्राणः प्राणो रेतः"** ऐतरेय ब्राह्मण 3.2.4

प्राचीन कवियों ने अपने भावों को दृढ़ करने हेतु दो असमान पदों को रखकर उनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट किया है-जैसे-अथर्व. 4.11.7 का मंत्रांश- **सोऽदृंहयत सोऽधारयत**

प्रभु उपासक की भावना को दृढ़ बनाते हैं और इसके द्वारा सभी का धारण कराते हैं।

उपरोक्त मंत्राश में दो असमान पदों के अर्थों में थोड़ा अन्तर है इस पुनरुक्ति में कोई पद्यात्मक सजावट नहीं है।

दो समानान्तर पद जिनमें पुनरुक्ति नहीं है, उन्हें युगल सूत्र कहा जाता है, जैसे-

यत् ते माता यत् ते पिता। अथर्व. 5.30.5

ध्रुवा द्यौः ध्रुवा पृथिवीं ध्रुवं। अथर्व. 6.88.1

कुछ पादों में दो समानान्तर शब्द समूह होते हैं-जिनमें प्रत्येक में या तो पूर्ण शब्द होते हैं या एक पूर्ण शब्द और कुछ सहायक शब्द होते हैं, जैसे - किसी पाद के चार भाग 'अ' 'ब' 'स' 'द' हैं-इनमें 'अ' और 'स' में समानरूपता होती है तथा 'ब' और 'द' में पूरक भाव होते हैं, परस्पर विरोधी या कम से कम एक ही अर्थ भाव वाले होते हैं।

उल्लेखनीय है कि एक ही श्रेणी के दो या अधिक पद एक दूसरे से सम्बन्धित ही नहीं माने जाते बल्कि एक-दूसरे के पूरक भी होते हैं। अनेक पद या पाद 'च' वर्ण से जुड़े होते हैं जो एक दूसरे के पूरक या युग्म होते हैं-जैसे-

पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च म उक्षा च मे वशा च म ऋषभश्च
मे वेहच्च मेऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

शुक्ल यजु. 18-27

(पष्ठवाट् च मे) चार साल का बैल मेरा हो (पष्ठौही च मे) और इसी प्रकार चार साल गौ मुझे प्राप्त हो। (उक्षा च मे) वीर्य सेचन में समर्थ बैल मुझे प्राप्त हो (वशा च मे) वन्ध्या गौ भी मेरे पास रहे। (ऋषभः च मे) अति युवा वृषभ मेरे पास हो और (वेहत् च मे) गर्भधारिणी गौ भी मुझे यज्ञ हेतु समर्थ करे। (अनड्वान् च मे) शकट-वहनक्षम बैल मुझे प्राप्त हो और (धेनुः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्) नवप्रसूता गौ मुझे यज्ञ के द्वारा शक्ति सम्पन्न बनाये।

इसके अतिरिक्त दूसरे (ब) और चौथे (द) पद समूह समरूप हैं जैसे-

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च।
विद्म वः सर्वतो वन्ध्वरसाः किं करिष्यथ। अथर्व. 5.13.7

(आलिगी) चारों ओर घूमने वाली (च) और (विलिगी च) ढेढ़ी चाल चलने वाली सर्पिणी (पिता च माता च) चाहे वह नर है, चाहे मादा, हम (वः बन्धुः सर्वतः विद्म) तुम्हारे बन्धन को सब प्रकार से जानते हैं। अतः (अरसाः किं करिष्यथ) हमारे लिए निःसार होती हुयी तुम क्या करोगी?

असमान पद प्रायः परस्पर विरोधी अर्थों को दर्शाते हैं-यह शैली दो पूरक पदों को दर्शाते हुए भाव की पूर्णता को प्राप्त होती है-जैसे-

यः सपत्नो यो ऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः।
अथर्व. 1.19.4 (मंत्रांश)

(यः सपत्नः) जो शत्रु अथवा (यः असपत्नः) जो शत्रु नहीं भी लगता है (यः च द्विषन्) और जो हमारे साथ प्रीति न करता हुआ (नः शपाति) हमे शापित करता है।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
ऋग्. 10.15.14 (मन्त्रांश)

(ये अग्निदग्धा) जो पिता अग्निदग्धा (अग्नि विद्या में निपुण) (ये अनग्निदग्धाः) अथवा जो अग्नि विद्या में निपुण नहीं भी हैं। (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) ज्ञान के प्रकाश में आत्मतत्त्व के धारण से अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हैं।

किसी मन्त्र में किसी पद के तीन बार पुनरुक्ति में प्रत्येक पद का एक ही या समान अर्थ होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार के मन्त्रों में सामान्यतया कारुणिकता, विश्मयात्मकता अर्थ प्रकाशित होता है- जैसे-

माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं सं शारि केवटे। अथारिष्टाभिरा गहि।
ऋ. 6.54.7

हे पूषन्! आपके अनुग्रह से हमारा यह इन्द्रिय रूप गोधन (माकिः नेशत्) नष्ट न हो। यह गोधन (माकीं रिषत्) विषयरूप व्याघ्रों से हिंसित न हो। यह गोधन (केवटे माकीं संशारि) विषय कूप में गिर कर शीर्ण मत हो। (अथ अरिष्टाभिः) अब इन अहिंसित इन्द्रिय रूप गौवों के साथ (आगहि) आप हमें प्राप्त होइए।

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वहतं निष्कुरु। तमु मे अगदं कृधि॥

अथर्व. 5.4.6

हे (कुष्ठ) कुष्ठनामक ओषधे! (इमं तं मे पूरुषम् आवह) इस मेरे रोगी पुरुष को मेरे लिए फिर से प्राप्त करा। (तं निष्कुरु) उसे रोग से बाहर कर दे (रोग को दूर कर दे) (मे तम् उ अगदं कृधि) मेरे उस पुरुष को निश्चय से निरोग कर दे।

ऐसे मन्त्र जिनमें दो समानान्तर और समरूप पाद होते हैं और बाद में दो पद जिनमें तीसरा पाद समानान्तर अर्थ वाला संक्षिप्त रूप में रहता है–जैसे

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्याऽमासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव॥ अथर्व. 7.74.2

दोष के प्रकर्ष, साम्य (मध्यमस्थिति) और अल्पत्व के भेद से गण्डमाला भी तीन भागों में बंट जाती है। (आसाम्) इन गण्डमालाओं में (प्रथमाम् विध्यामि) दोष प्रकर्षेण उद्भूत दुश्चिकित्स्य गण्डमाला को वंशसेन तरु के मूल से बींधता हूँ (उत मध्यमाम्) और मध्यम स्थिति वाले दोष से उद्भूत अधिक दुःसाध्य गण्डमाला को भी बींधता हूँ। (इदम् आसाम् जघन्याम्) अब इन गण्डमालाओं में अल्पदोष समुद्भूता थोड़े से प्रयत्न से (स्तुकाम् इव आच्छिनद्मि) उनके बाल की भाँति सर्वतः छिन्न कर देता हूँ।

कभी-कभी प्रथम दृष्ट्या पदों के अवलोकन से स्पष्ट नहीं होता है कि अमुक पद की पुनरुक्ति हुयी है, जैसे-

अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनां। ऋ. 1.58.7 (मंत्रांश)

मैं अग्नि प्रभु को पूजता हूँ जो (विश्वेषां वसूनाम् अरतिम्) निवास के लिए सब पदार्थों को प्राप्त कराने वाले हैं।

नोट - यहाँ *विश्वेषाम् वसूनाम्* को *अरतिम्* मध्य में रखकर खण्डित किया गया है जो अग्नि का समानाधिकरण है।

ऐसे प्रकरण बार-बार देखे जाते हैं जब समानान्तर शब्द-समूह और छन्दोबद्ध मन्त्र एक जैसे हो जाते हैं-जैसे-

विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजं।

अथर्व. 6.57.3 (मन्त्रांश)

समस्त पदार्थ हमारे लिए ओषध रूप हों। वे सर्वव्यापक प्रभु हमारे लिए औषध हों। प्रभु-स्मरण हमें सब व्याधियों से बचाए।

इसी क्रम में अथर्ववेद के निम्न मन्त्र-

(क) ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा।

(ख) सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा।

(ग) बलमसि बलं मे दाः स्वाहा।

(घ) आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा।

(ङ) श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा।

(च) चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा।

(छ) परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा। अथर्ववेद 2-17

मन्त्रों के अर्धर्चों में समानता के उदाहरण निम्न रूप में प्रदर्शित हैं-

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥

ऋ. 2.12.2

(जनासः) हे लोगो! (स इन्द्रः) प्रभु वह है (यः व्यथमानाम्) भूकम्पादि से कम्पित होती पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ करता है। इन्द्र वह है (यः प्रकुपितान् पर्वतान्) जो कुपित होकर लावा के रूप में गर्म पदार्थों को बाहर फेंकते हुए पर्वतों को (अरम्णात्) बड़ा रमणीय बनाता है। इन्द्र वह है (यः वरीयः अन्तरिक्षम्) जो इस अत्यन्त विशाल अन्तरिक्ष को (विममे) बनाता है और (यः द्याम् अस्तभ्नात्) और जो इस प्रकाशमय द्युलोक को थामता है।

इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं-जिसमें एक पद के स्थान पर दूसरे उसी अर्थ वाले शब्दों को रखा गया है।

अध्याय-4

एक ही विचार की वस्तुनिष्ठात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) अभिव्यंजना (Expressions)

किसी सकारात्मक (Positive) मन्तव्य को बिना अर्थ/भाव में परिवर्तन किए निषेधात्मक (Negative) रूप में व्यक्त करना इस अध्याय का विषय है। प्रथम उच्चरित तथ्यों को कुछ शब्दान्तरों के साथ, मूल अर्थों/भावों को बिना परिवर्तन के,

दूसरे भाग में निषेधात्मक रूप में व्यक्त करना, जिससे पदों/पादों की पुनरुक्ति होती है। जैसे–

मदे चिदस्य प्ररुजन्ति भामा न वरन्ते परिवाधो अदेवीः।

ऋ. 5.2.10 (मन्त्रांश)

स्तुति के द्वारा (मदे) आनन्द होने पर (चित् अस्य भामाः) निश्चय से इस (अग्नि) प्रगतिशील स्तोता के तेज (प्ररुजन्ति) उन राक्षसी भावों को प्रकर्षेण पीड़ित करते हैं। इन स्तोताओं को (अदेवीः परिवाधः) आसुरी उन्नति की बाधक भावनाएँ (न वरन्ते) घेरने वाली नहीं होतीं। यह स्तोता आसुरी भावों से कभी आक्रान्त नहीं होता।

यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन।

अथर्व. 7.37.1 (मन्त्रांश)

पत्नी पति से कहती है–मैं तुझे इस प्रकार अपने साथ सम्बद्ध करती हूँ (यथा केवलः मम असः) जिससे तू केवल मेरा ही हो, (चन अन्यासाम् न कीर्तयाः) और अन्यों का नाम भी उच्चरित न करे।

अध्याय–5

विपर्यास (Chiasmus)

जे. खोंदा का कथन है कि साधारण परम्परागत तथ्यों के सम्भाषण या प्रस्तुतिकरण के स्थान पर जब वक्ता या प्रस्तुतकर्ता अपने प्रस्तुति में शब्दों/वाक्यों (पदो/पादों) में उलट-पुलट कर श्रोता के समक्ष रखता है तो श्रोताओं को विशेष रूप से आकर्षित करता है। प्रथम समान पदों में विपर्यय को प्रस्तुत किया गया है–जैसे–

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि॥ अथर्व. 6.123.3

(देवाः) दिव्यवृत्ति वाले पुरुष (पितरः) रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (पितरः) ये रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग ही (देवाः) देव हैं, अर्थात् देव पितर हैं और पितर ही तो देव हैं। (यो=या+उ, अस्मि) मैं भी गतिशील बनता हूँ और (सः अस्मि) (षोऽन्तकर्मणि) दुःखों का अन्त करने वाला होता हूं।

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म॥ अथर्व. 16.9.3

(स्वः=आपः=रेतः) हमने वासनाओं को पराजित करके शरीर में रेतस् कणों को (अगन्म) प्राप्त किया है, इससे ज्ञानाग्नि की दीप्ति होने पर (स्वः अगन्म) हमने ज्ञान ज्योति को प्राप्त किया है। (सूर्यस्य) उस आदित्य वर्ण ब्रह्म की (ज्योतिषा) ज्ञान दीप्ति से (सम् अगन्म) हम संगत हुए हैं।

लेखक ने इस प्रकार की पुनरुक्ति के निम्न कारण बताए हैं-

1) प्रबल भावनाओं के प्रभाव से-पूर्व कथन को कुछ परिवर्तन के साथ पुनः प्रस्तुत करता है, जोकि सार्वभौमिक प्रवृत्ति है।

2) पदों/पादों के क्रम में परिवर्तन करने से कथन को अतिरिक्त बल प्राप्त होता है।

पदों/पादों के विपर्यय से भी पुनरुक्ति होती है, जो मूल भावना के अन्तर्गत आती है और जो लेखक/वक्ता की भावना को समझने में सहायक होती है। जैसे-

उषा देवी वाचा संविदाना वाग्देव्युषसा संविदाना। अथर्व. 16.6.5

(उषाः देवी) अंधकार को दूर करने वाली यह उषा (वाचा संविदाना) स्तुति व ज्ञान की वाणियों के साथ मेल वाली हो। (वाग् देवी उषसा संविदाना) दिव्य गुण युक्त वाणी उषा के साथ मेल वाली हो।

पारिभाषिक साहित्य में यह पुनरुक्ति यथार्थ कारण से होती है, जो उल्टे क्रम में होती है-

(1) पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु॥

(2) द्यौहिंकारः आदि:यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम्॥ छा.उप. 2.2.1, 2

कुछ स्थलों पर शब्दों का क्रम-परिवर्तन और पुनरुक्ति स्पष्ट देखी जाती है-

न पश्योमृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वम्। छा.उप. 7.26.2

जो आत्मा के भूमा रूप को देख लेता है, वह मृत्यु को नहीं देखता, रोग को नहीं देखता, दु:ख को नहीं देखता। भूमा का साक्षात्कार करने वाला सब कुछ देख लेता है, सब कुछ पा लेता है।

प्रायः पूर्व वाक्य के प्रारम्भिक पद क्रमागत अग्रिम वाक्य के अन्त में स्थापित होते हैं-जैसे-

पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम्। अथर्व. 8.9.9 (मन्त्रांश)

वेदवाणी के ज्ञान के सन्दर्भ में - (एनाम्) इस वेदवाणी को (त्वे पश्यन्ति) कई देखते हैं (त्वे न पश्यन्ति) कई नहीं देखते हैं। सात्त्विक वृत्ति वाले पुरुष इस वेदवाणी के भाव को समझ पाते हैं। तामस् व राजस् वृत्ति वालों को इसका दर्शन सम्भव नहीं होता।

विपर्यय के कुछ अन्य उदाहरण निम्न हैं–

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ अथर्व. 4.13.1

आधि-व्याधियों पर विजय पाने की कामना वाले (देवाः) विद्वज्जनो! आप (अवहितम् उत्) रोगादि से नीचे पड़े हुए भी इस पुरुष को पुनः (उन्नयथ) उन्नत कर देते हो।

(उत) और हे (देवाः) ज्ञान की ज्योति वाले (देवाः) ज्ञानी पुरुषो! आप (आगः चक्रुषम्) पाप कर चुके हुए भी इस पुरुष की पापवृत्ति को दूर करके (पुनः जीवयथ) फिर से जीवन प्रदान करते हो।

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम्।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो राजयन्तो हवन्ते॥ ऋ. 4.25.8

(परे अवरे मध्यमासः) सात्त्विक वृत्ति वाले, तमोगुणी तथा मध्यम रजोगुण में रहने वाले अन्ततः (इन्द्रं हवन्ते) प्रभु को ही पुकारते हैं। (यान्तः) अपने अपने कार्य के लिए जाते हुए पुरुष (इन्द्रम्) उस प्रभु को ही पुकारते हैं और (अवसितासः) कार्य की समाप्ति पर पहुंचने वाले पुरुष भी (इन्द्रम्) प्रभु को ही पुकारते हैं। (क्षियन्तः) घर में निवास करते हुए (उत) और उसके विपरीत (युध्यमानः) रणक्षेत्र में युद्ध करते हुए लोग (इन्द्रम्) उस प्रभु को ही पुकारते हैं। (वाजयन्तः) शक्ति प्राप्ति की कामना वाले पुरुष (इन्द्रम् हवन्ते) प्रभु को ही पुकारते हैं।

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामशन्न नेमिः परि ता बभूव॥ ऋ.1.32.15

(इन्द्रः यातः अवसितस्य राजा) प्रभु जंगम तथा एक स्थान में बद्ध स्थावर का राजा है। (सः वज्र बाहुः) वज्रहस्त प्रभु ही (शमस्य) शान्त स्वभाव वाले प्राणियों के (च शृङ्गिणः) और सींग वाले क्रूर पर (इत् राजा) निश्चय ही शासन करने वाले हैं। वे ही प्रभु (चर्षणीनाम् क्षयति) सब श्रमशील मनुष्यों को उत्तम निवास देने वाले हैं (अरान् न नेमिः) जिस प्रकार हाल अरों के चारों ओर होकर उनकी रक्षा करता है, उसी प्रकार वे प्रभु (ताः परिबभूव) उन सब प्रजाओं को चारों ओर से व्यापन करने वाले हैं।

मन्त्र सं. 1.32.15 का 'इन्द्रो यातो ऽवसितस्य राजा' और मन्त्र सं. 4.25.8 का 'इन्द्रम् यान्तो ऽवसितास इन्द्रम्' – ये दोनों पूरक पद हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में विपर्यय एक विधा थी, जिसका क्षेत्र बहुत विस्तृत था। विस्तृत विवेचना इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है, परन्तु श्री खोंदा ने संक्षिप्त

सूची अंकित करते हुए लिखा है कि बहुधा दो या अधिक पदों/पादों द्वारा एक ही भावना/अर्थ को प्रदर्शित किया गया है। कुछ का सन्दर्भ निम्न प्रकार है-

ऋग्वेद - 1.7.4 (तृतीय पाद)

ऋग्वेद - 1.129.5 (तृतीय पाद)

ऋग्वेद - 3.27.2 (द्वितीय पाद)

ऋग्वेद - 8.23.9 (द्वितीय पाद)

ऋग्वेद - 1.124.10 (द्वितीय पाद)

ऋग्वेद - 4.51.3 (तृतीय पाद)

अथर्ववेद 1.20.3 (द्वितीय पाद) इसकी तुलना ऋग्वेद के मन्त्र सं. 1.22.18 से भी की गयी है।

अध्याय-6

वाक्य में एक ही शब्द/शब्दों की पुनरावृत्ति (Anaphora)

शब्द/शब्दों या मुहावरों की पादों/अर्धर्चों/मंत्रों में पुनरावृत्ति सामान्य रूप से किसी भी भाषा या साहित्य में पायी जाती है। पद्यों या मन्त्रों की साज-सज्जा और प्रभावशाली करने हेतु इस अलंकार का प्रयोग होता है। अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में शब्दों का क्रम केवल समानान्तर ही नहीं बल्कि समरूप भी है।

मधुमन्मे निक्रमणम् मधुमन्मे परायणम्।
वाचा बदामि मधुमद्भूयासं मधुसन्दृशः।। अथर्व. 1.34.3

(मे निक्रमणम्) मेरा अन्दर आना या समीपता प्राप्त होना (मधुमत्) माधुर्य को लिए हो। (मे परायणम् मधुमत्) मेरा बाहर व दूर जाना भी माधुर्य वाला हो। (वाचा मधुमत् वदामि) वाणी से माधुर्य शब्द ही बोलूँ। (मधुसन्दृशः भूयासम्) मैं मधु जैसा ही हो जाऊँ।

वक्ता/स्तोता किसी बिन्दु विशेष को महत्वपूर्ण प्रदर्शित करने हेतु मंत्र या वाक्य के प्रथम शब्द (जिसे स्तोता इच्छा करता है) की पुनरावृत्ति करता है। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।।

ऋ. 2.33.10

हे (अर्हन्) पूजनीय रुद्र! आप ही (सायकानि बिभर्षि) शत्रुओं का विदारण करने हेतु शरों को धारण करते हैं। इसी उद्देश्य से (धन्वः) धनुष को आप अपने हाथ में लेते हैं। (अर्हन्) पूजा के योग्य होते हुए आप ही (निष्कम्) सब धनों के स्वामी हैं, जो निष्क (यजतम्) दान करने योग्य है तथा (विश्वरूपम्) सब वस्तुओं का निर्माण करने वाला है। (अर्हन्) हे पूजनीय प्रभु! आप ही (इदम् अभ्वम् विश्वम् दयसे) इस महान् संसार को रक्षित करते हैं। हे रुद्र (त्वद् ओजीयः न वा अस्ति) आपसे अधिक ओजस्वी नहीं है। ओजस्वितम होते हुए आप सब कष्टों का निवारण करते हैं-और सारे ब्रह्माण्ड का रक्षण करते हैं।

इस प्रकार की पुनरावृत्ति बहुधा विचारों को विश्लेषणात्मक रूप में प्रस्तुत करती है।

अरं म उस्त्रयाम्णेऽरमनुस्त्रयाम्णे। बभ्रू यामेष्वस्त्रिधा॥ ऋ. 4.32.24

(बभ्रू) अत्यन्त हमारा भरण करने वाले इन्द्रियाश्व (उस्त्रयाम्णे) प्रकाश की किरणों की ओर जाने वाले (मे अरम्) मेरे लिए पर्याप्त हैं। उसी प्रकार (यामेषु अस्त्रिधा) जीवन यात्रा के मार्गों में न हिंसित होने वाले ये इन्द्रियाश्व (अनुस्त्रयाम्णे) ज्ञान किरणों से भिन्न यज्ञादि कर्मों की ओर जाने वाले मेरे लिए (अरम्) पर्याप्त हैं।

अध्याय-7

एक ही शब्द/शब्दों का सब पादों में संगत स्थानों पर पुनरुक्ति (Responsro)

एक ही शब्द/शब्दों या ध्वनि-समूह का दोनों या सब पादों में संगत स्थानों पर पुनरावृत्ति। जैसे-

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥

ऋ. 10.137.3, अथर्व. 4.13.3

हे (वात) प्राणवायो! तू (भेषजम्) सर्वव्याधि निवर्तक औषध (आवाहि) प्राप्त करा। (वात यत् रपः) हे अपान वायो! जो पाप व दोष व्याधि का कारण है, उसे (विवाहि) दूर कर। हे वायो! (त्वं हि विश्वभेषज) तू ही सब व्याधियों का निवर्तक है, तू (देवानाम् दूतः) सब इन्द्रियों का दूत की भाँति समीपवर्ती होता हुआ उनके पोषण के लिए (ईयसे) सारे शरीर को व्याप्त करके गति वाला होता है।

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वेदेवासो अनु मा रभध्वम्।

अथर्व. 2.12.5 (मन्त्रांश)

(द्यावापृथिवी माअनुदीधीथाम्) द्युलोक और पृथिवीलोक मेरे अनुकूल होकर दीप्त हों। मेरे शरीर में मस्तिष्क रूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से चमके और पृथिवी रूप शरीर तेजस्विता से दीप्त बने। (विश्वे देवास: मा अनुरभध्वम्) सब देव मेरे अनुकूल होकर कार्य करने वाले हों।

बहुत मन्त्रों में असमान शब्दों के मध्य संगीत में भिन्नता होती है। जैसे–

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति। अथर्व. 6.59.1 (मन्त्रांश)

(अरुन्धति त्वं प्रथमं अनडुद्भ्य:) हे अरुन्धती ओषधे! तू पहले शकट का वहन करने वाले (धेनुभ्य: त्वम्) तथा दूध देने वाली गौवों के लिए सुख प्रदान कर।

कुछ मन्त्रों में एक या अधिक पदों की पुनरावृत्ति उपवाक्य और मुख्य वाक्य में पायी जाती है। जैसे–

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।
ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयो:॥ अथर्व. 6.138.4

(ये ते नाड्यौ देवकृते) जो तेरी दो नाड़ियाँ विषय क्रीडा के कारण हिंसित हो गयी हैं (ययो: वृष्ण्यम् तिष्ठति) जिनमें वीर्य की स्थिति है, (ते ते अधिमुष्कयो:) तेरी उन हिंसित नाड़ियों को अण्डकोशों के ऊपर (अमुष्या: शम्यया भिनद्मि) उस स्वस्थ नाड़ी तुल्य शस्त्र के द्वारा अलग करता हूँ।

कुछ मन्त्रों में शब्द-समूह इस प्रकार विभाजित होते हैं कि वे शब्द-समूह विभिन्न पादों में छन्द विराम के ठीक पूर्व या बाद में या अन्य कहीं स्थापित रहते हैं। जैसे–

मा नो विदन्विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्।
अथर्व. 1.19.1 (मन्त्रांश)

(न: विव्याधिन: मा विदन्) हमें विशेष रूप से विद्ध करने वाले लोभ आदि शत्रु प्राप्त न हों (उ अभिव्याधिन: मा विदन्) और चारों ओर से आक्रमण करने वाले काम आदि शत्रु भी प्राप्त न हों।

अध्याय-8

अनुप्रास (Alliteration)

एक ही प्रारम्भिक ध्वनि (वर्ण) या ध्वनियों का समूह (वर्णों) का बार-बार क्रमागत पदों में पाया जाना अनुप्रास है। उदाहरण–

यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्।

ऋ. 1.113.1 (मन्त्रांश)

(यथा प्रसूता सवितुः सवायँ) जिस प्रकार उत्पन्न हुयी यह उषा सूर्य के आगमन हेतु अपने स्थान को रिक्त कर देती है (एव रात्रि) उसी प्रकार रात्रि (उषसे योनिम् आरैक्) उषा के लिए स्थान खाली कर देती है।

अपदे पादा प्रति धातवेऽकरु तापवक्ता हृदयाविधश्चित्।

ऋ. 1.24.8 (मन्त्रांश)

(अपदे पादा प्रति धातवे) जहाँ पाँव रखने का स्थान नहीं है, उस आकाश में पाँव रखने के लिए (अकः) उस प्रभु ने व्यवस्था की है (उत हृदयाविधः) और यह सूर्य हृदय को विद्ध करने वाली बीमारियों को (चित् अपवक्ता) निश्चय से झिड़क कर दूर भगा देने वाला है।

अनुप्रास केवल दो क्रमागत पदों को युक्त करने का साधन नहीं है बल्कि वाक्य रचनाओं का महत्वपूर्ण साधन है, जो प्रायः प्रयोग में लाया जाता है, इससे वाक्यों के तार्किक सम्बन्धों को भी प्रकट किया जाता है।

अध्याय-9

तुकान्त और पदान्त में वर्णों की पुनरुक्ति
(Rhyme and Homoroteleuton)

यहाँ पर मन्त्रान्तर्गत के शब्दों (पदों) के अन्त की ध्वनियों/वर्णों की पुनरुक्ति का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ-

भक्तमभक्तमवो व्यन्तो अजरा अग्नयो व्यन्तो अजराः।

ऋ. 1.127.5 (मन्त्रांश)

(भक्तम् अभक्तम्) प्रभो ज्ञानी भक्त और अभक्त को भी (अव) रक्षित करते हैं। प्रभु के रक्षण में चलते हुए अभक्त भी (व्यन्तः अजराः) धीरे-धीरे हविर्भक्षण की वृत्ति वाले बनकर अ-क्षरित शक्तियों वाले होते हैं। (अग्नयः व्यन्तः अजराः) ये प्रगतिशील होते हैं और यज्ञशेष का ही सेवन करते हुए अ-जीर्णशक्ति बनते हैं।

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः।

अथर्व. 6.4.2 (मन्त्रांश)

(अंश: भग: वरुण: मित्र: अर्यमा अदिति: मरुत:) विनाश की देवता, ऐश्वर्य, निर्द्वेषता, सबके प्रति स्नेह, संयम, स्वास्थ्य की देवता, प्राण-ये सब (पान्तु) मेरा रक्षण करें।

मंत्रों के दो या अधिक पदों के अन्तिम वर्णों की ध्वनियों में समानता, निम्न उदाहरण-

प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवेभरे।
ऋ. 1.143.1 (मन्त्रांश)

मैं (अग्नये तव्यसीम् नव्यसीम् धीतिम् प्रभरे) प्रभु की प्राप्ति के लिए, वृद्धि की कारण भूत, स्तुति के योग्य, यागात्मक क्रिया को, प्रकर्षेण सम्पादित करता हूँ। उस (सहस: सूनवे) शक्ति के पुञ्ज के लिए (प्रभरे) धारण करता हूँ।

कुछ अन्य प्रकार का उदाहरण जो प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त किया गया है-

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः।
उच्छोचन प्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः॥ अथर्व. 7.95.1

(अस्य हृद: उच्छोचनौ) इस पुरुष के हृदय को शुष्क करने वाले ये काम क्रोध (विथुरौ) इसकी व्यथा को बढ़ाने वाले हैं। ये (श्यावौ गृध्रौ इव) गतिशील दो गीधों के समान (द्याम् उत्पेततु:) आकाश में उपर उठते हैं। ये (अस्य उच्छोचनप्रशौचनौ) इस पुरुष के महान् शोक का कारण बनते हैं।

एक अन्य शैली जिसमें पाद का अन्तिम पद, पाद के मध्य के ठीक पूर्व के पद की ध्वनि/वर्ण में समानता मन्त्र साहित्य में पायी जाती है।

पोषं रयीणाम् अरिष्टिं तनूनाम्। ऋ. 2.21.6 (मन्त्राँश)

(रयीणां पोषम्) धनों के पोषण हमको प्राप्त कराइये। (तनूनाम् अरिष्टिम्) शरीरों की अहिंसा (स्वास्थ्य) को प्राप्त कराइये।

पयो धेनूनां रसम् ओषधीनाम्। अथर्व. 4.27.3 (मन्त्राँश)

(धेनूनां पय:) गौवों के दूध को तथा (ओषधीनां रस:) ओषधियों के रसों को प्राप्त करायें।

वैदिक साहित्य की शैली में दो संगत संज्ञायें एक ही श्रेणी के प्राय: एक ही अन्तिम ध्वनि/वर्ण के प्रयोग किए गए हैं, जैसे-

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन् अमृतं मर्त्यं च॥
ऋ. 1.1.4 (मन्त्रांश) ऋ. 1.35.2 (मन्त्रांश)

अति उल्लेखनीय शैली जिसमें स्तुति के दो (जोड़े) शब्द अलग-अलग रूप में ध्वनित होते हैं और नियमित अन्तराल पर प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण-

याति देवः प्रवता यात्युद्वता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्।
ऋ. 1.35.3 (मन्त्रांश)

कभी-कभी मन्त्रों के चारों पादों में एक ही प्रकार की समानता होती है। जैसे-

इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे।
नरे च दक्षिणावते देवाय सदनासदे॥ ऋ. 9.98.10

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्॥ अथर्व. 1.2.1

अन्य शैली जिसमें मन्त्र बिना छन्द-विराम के प्रयोग किया गया है-जैसे-

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
अथर्व. 6.55.3 (मन्त्रांश)

अध्याय-10

स्वरों की एकता (समानता) - Assonance

भावना, कल्पना, सौन्दर्यबोध, किसी निश्चित ध्वनि के प्रति लगाव, अच्छे वक्तव्य की प्रवृत्ति लगभग प्रत्येक के अन्दर निहित होती है। प्रत्येक भाषा के ज्ञाता के अन्दर कवित्व, मिश्रित ध्वनि प्रकट करने या समान लगने वाले शब्दों को उच्चरित करने की इच्छा होती है जो वेद मन्त्रों में भी पायी जाती है। कुछ उदाहरण निम्न हैं-

अनन्ते अन्तः। ऋ. 4.1.7 (मन्त्रांश)

अनन्त ज्ञान में संवृत हुआ।

अन्तरुदुस्त्रा आजन्नुषसो। ऋ. 4.1.13 (मन्त्रांश)

वैदिक ऋषियों के कुछ मन्त्रों में अनुप्रास और स्वरों की समानता के कुछ उदाहरण निम्न हैं-

प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति। ऋ. 10.170.1 (मन्त्रांश)

विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमम्। ऋ. 10.170.2 (मन्त्रांश)

अमित्रहा वृत्रहा दस्युहंतमम्।

ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा। ऋ. 10.170.2 (मन्त्रांश)

इसी सम्बन्ध में निम्न उदाहरण अवलोकनीय है-

विश्वेषाम् अदितिः यज्ञियानां विश्वेषाम् अतिथिः मानुषाणाम्॥
ऋ. 4.1.20 (मन्त्रांश)

अध्याय-11

श्लेष (Paronomasia)

इस अध्याय में एक ही धातु (root) से एक ही वाक्य समूह के दो या अधिक शब्दों की उत्पत्ति पर विचार किया गया है जिसके अनुसार एक ही धातु से उत्पन्न शब्दों की ध्वनि और उनके सम्बन्धों पर विवेचना की गयी है। शैलीगत पुनरुक्ति में श्लेष का प्रयोग एक सामान्य प्रक्रिया है। जैसे-

पाशो प्रतिपाशो जहि। अथर्व. 2.27.2 (मन्त्राँश)

अनेक अर्थों वाले शब्दों को प्रकट करने पर असामान्य और आश्चर्यजनक भावों की उत्पत्ति होती है।

स्तोता स्तुति में 'तेरा' व्यवहार करता है-जैसे

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। ऋ. 1.10.1 (मन्त्रांश)

हे प्रभो! (त्वा गायत्रिणः गायन्ति) साममन्त्रों से तेरे गुणों का गान करते हैं। (अर्किणः अर्कम् अर्चन्ति) ऋक् मन्त्रों वाले होता लोग अर्चना के योग्य आपकी पूजा करते हैं।

मन्दन्तु त्वा मन्दिनः सुतासः। ऋ. 2.11.11 (मन्त्रांश)

(मन्दिनः सुतासः त्वा मन्दन्तु) हर्ष को उत्पन्न करने वाले, शरीर में उत्पन्न सोमकण तुझे हर्षित करने वाले हों।

अश्वम् इवाश्व अभिधान्या। अथर्व. 4.36.10, 5.14.6 (मन्त्रांश)

(इव अश्वाभिधान्या अश्वम्)-जैसे कि रज्जु से घोड़े को बाँधते हैं।

ऐसे मन्त्र जिनमें निषेधात्मक विशेषण सकारात्मक से प्रकट किए जाते हैं। इस प्रकार हैं, जैसे-

किं देवेषु त्यज एनश्चकर्थाग्ने पृच्छामि नु त्वामविद्वान्।
अक्रीळन्क्रीळन्हरिरत्तवेऽदन्वि पर्वशश्चकर्त गामिवासिः॥
ऋ. 10.79.6

विशेष उल्लेखनीय है जिन प्रकरणों में एक ही धातु से बने शब्द उसी वाक्य समूह में संगत होते हैं, जैसे–

कृतस्य कार्यस्य च। अथर्व. 3.24.5 (मन्त्रांश)

यत् जातम् जनितव्यं च केवलम्। अथर्व. 4.23.7 (मन्त्रांश)

निम्न मन्त्रांश में पुनरुक्ति की विशेष शैली को बताया गया है।

अजुर्यः जरयन् अरिम्। ऋ. 2.8.2 (मन्त्राँश)

(अजुर्यः) वे प्रभु कभी जीर्ण होने वाले नहीं हैं (अरिम् जरयन्) काम क्रोधादि हमारे शत्रुओं का संहार करने वाले हैं।

ऐसे मन्त्र जिनमें दो या अधिक पद परस्पर जुड़े हों और श्लेषात्मक हों, तब मन्त्रकर्ता और श्रोता दोनों के मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जैसे–

तं त्वां गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोदः।
सपर्येम सपर्यवः। ऋ. 2.6.3

हे (द्रविणोदः) सब इन्द्रियों/धनों को देने वाले प्रभो! (गिर्वणसम्) ज्ञान वाणियों द्वारा स्तुति करने योग्य (द्रविणस्युम्) धनों को चाहने वाले (तं त्वा) उन सबको (सपर्यवः) पूजा करने वाले हम (गीर्भिः) इन ज्ञान वाणियों से (सपर्येम) पूजित करें।

अन्य प्रकरण जिसमें विशेषण को सकारात्मक और तुलनात्मक रूप से संयुक्त कर प्रस्तुत किया गया है, जैसे–

सहुरिः सहीयान्। अथर्व. 4.32.4 (मन्त्रांश)

सहुरिः–सहनशील, सहीयान्–खूब सहन शक्ति वाला।

वेद के अन्य कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं, जैसे–

धाता धातॄणां। ऋ. 10.128.7 (मन्त्रांश)

धाताओं का भी धाता है, धारकों का भी धारक है।

भिन्नता के मूलरूप–

1. वाक्शैली में नियामक (Governing) सिद्धान्त सर्वोत्तम रूप में, जैसे–

तवस्तमस् तवसाम्।

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासी। ऋ. 2.33.3 (मन्त्रांश)

बढ़े हुओं में सबसे अधिक बढ़े हुए। हे रुद्र (परमात्मन्) आप इस ब्रह्माण्ड में श्री की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं।

भिषक्तमं त्वा भिषजां। ऋ. 2.33.4 (मन्त्रांश)

आप वैद्यों में सर्व महान् वैद्य हैं।

अध्याय-12

शब्द-व्युत्पत्ति में अलंकार विधान
(Figura Etymologica)

यह श्लेष के दूसरे रूप में विचारणीय है। कर्म कारक (द्वितीया विभक्ति) के उसी धातु की क्रिया के साथ प्रयोग विशेष रूप से होता है। वेदों में शब्दों के व्युत्पत्ति रूप प्रायः प्रयोग में आए हैं, जैसे-

अवर्षीः वर्षम्। ऋ. 5.83.10 (मन्त्रांश)

इस वृष्टि जल का वर्षण किया है।

कृषिम् इत् कृषस्व। ऋ. 10.34.13 (मन्त्रांश)

निश्चय से खेती को ही करें।

स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे। ऋ. 2.22.1 (मन्त्रांश)

वह निश्चय से (महिकर्म कर्तवे) महान् कर्म करने हेतु समर्थ होता है (ममाद) प्रसन्नता का अनुभव करता है।

कभी-कभी कोई मन्त्रकर्ता परस्पर कार्यरूप (विनिमय-Exchange) को निम्न रूप में दर्शाता है-

यो नो दिप्सदप्सितो दिप्सतो यश्च दिप्सति।

अथर्व. 4.36.2 (मन्त्रांश)

(यः अदिप्सतः नः) जो हिंसित न करना चाहते हुए हमें (दिप्सात्) हिंसित करने की इच्छा करे (च यः दिप्सतः) और जो अपराध करने पर हिंसित करने की कामना वाले राजपुरुषों को (दिप्सति) हिंसित करना चाहता है अर्थात् जो राजपुरुषों (Police) पर ही आक्रमण कर देता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र ग्रन्थों की यह सामान्य शैली है, जिसमें किसी कार्य (Noun) को सजातीय क्रिया से संयुक्त कर प्रदर्शित किया जाता है।

व्युत्पत्तीय कर्म कारकों के प्रायः प्रयोग से व्युत्पत्ति मिश्रित पद वेदों में प्रयोग किए गए हैं-जैसे-

धर्मधृतः, अथर्व. 1.25.1

धर्म को धारण करने वाले लोग।

कभी-कभी लम्बे पुनरुक्ति-समूह के लिए व्युत्पत्ति-विधान सहायक होते हैं, जैसे-

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। गीता 6/1 (आंशिक)

अध्याय-13

एक ही शब्द का अनेक रूपों में प्रयोग (Polyptoton)

एक ही शब्द को अनेक रूपों में प्रदर्शित करना इस अध्याय का मुख्य विषय है। जैसे- "आँख के लिए आँख", "खून के बदले खून"। एक ही जाति के शब्द के दो प्रकारों का आपसी विनिमय। कुछ उदाहरण निम्न हैं-

भद्रा भद्रस्य रातयः। ऋ. 1.132.2 (मन्त्रांश)

(भद्राः) सदा कल्याणकर होना (भद्रस्य) कल्याण स्वरूप (रातयः) दान।

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्॥
ऋ. 2.12.1 (मन्त्रांश)

(यः जातः एव) जो प्रभु सदा से प्रादुर्भूत हैं (प्रथमः मनस्वान्) अतिशय विस्तार वाले ज्ञानवान् हैं। (देवः देवान् क्रतुना पर्यभूषत्) प्रकाशमय वे प्रभु सब देवों को शक्ति से अलंकृत करते हैं।

जे. खोंदा का कथन है कि उपरोक्त मन्त्रांश में 'देवान्' की जगह अन्य देवताओं के भी नाम लिखे जा सकते थे परन्तु श्रोता के श्रवण सुख हेतु इस शब्दरूप की पुनरुक्ति की गयी है।

तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपां नपातं परि तस्थुरापः।
ऋ. 2.35.3 (मन्त्रांश)

(तम् उ शुचिम्) उस प्रभु के स्तोता को ही जो कि पवित्र जीवन वाला बनता है तथा (दीदिवांसम्) ज्ञान से दीप्त होता है जो (अपां न पातम्) यथासम्भव रेतस् कणों का पतन नहीं होने देता, इस स्तोता को (शुचयः आपः परितस्थुः) शरीर, मन और बुद्धि को पवित्र बनाने वाले रेतस् कण घेर कर ठहरते हैं।

दो पदों के कार्य में समानता - उनके सान्निध्य से, जैसे-

स्वः स्वायधायसे कृणुतामृत्विगृत्विजम्। ऋ. 2.5.7 (मन्त्रांश)

(स्वः स्वाय धायसे) आत्मा परमात्म तत्व के धारण हेतु (ऋत्विक्) यज्ञशील बनकर (ऋत्विजम्) उस ऋतु में उपासना योग्य प्रभु को (कृणुताम्) अपने हृदय में स्थापित करें।

सम्बन्ध सूचक (षष्ठीविभक्ति-genitive) और कर्ताकारक (Nominative)- कुछ मंत्रों में एक शब्द का अनेक रूपों में प्रयोग (polyptoton) मंत्र के प्रारम्भ में किए गए हैं। जैसे-

कामः कामायादात्। अथर्व. 3.29.7 (मन्त्रांश)

(कामः कामाय अदात्) काम ही काम के लिए देता है। प्रजा में यह कामना होती है कि उसे अन्तः व बाह्य उपद्रवों के भय से कोई रक्षित करने वाला हो तथा राजा के अन्दर भी भावना रहती है कि मैं इतनी विशाल प्रजा का राजा हूँ और उसे यश की कामना होती है। यह कामना ही राजा और प्रजा के सम्बन्धों को स्थिर रखती है।

देवो देवेभिरा गमत्। ऋ. 1.1.5 (मन्त्रांश)

(देवः) सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु (देवेभि, आगमत्) सब देवताओं के साथ आते हैं।

कभी-कभी व्यवसाय सम्बन्धी नाम भी सानिध्य में आते हैं, जैसे-

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अथर्व. 3.18.4 (मन्त्रांश)

हे (उत्तरे) उत्कृष्ट आत्मविद्ये! तुझे प्राप्त करके (अहम् उत्तरा) मैं भी उत्कृष्ट जीवन वाली हूँ। मैं (इत् उत्तराभ्यः उत्तरा) निश्चय से उत्कृष्टों से उत्कृष्टतर हूँ।

एक शब्द के अनेक रूपों (polyptonie) के संग्रह की पुनरुक्ति सदैव कृत्रिमता के कारण नहीं होती, जैसे-निम्न मंत्र में सामान्य आख्यान है-

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता।
सखा सख्या समिध्यसे॥ ऋ. 8.43.14

हे अग्ने! (त्वं हि अग्निना समिध्यसे) आप निश्चय से प्रगतिशील उपासक द्वारा हृदय देश में समिद्ध किए जाते हैं। (विप्रः विप्रेण) ज्ञानी आप ज्ञानी उपासक के द्वारा समिद्ध होते हैं। (सन् सता सखा) सब उत्तमताओं वाले सत्यस्वरूप आप सज्जनता को अपनाने वाले उपासक से समिद्ध किए जाते हैं। (सखा सख्या) सबके मित्रभूत आप मित्रभाव से चलने वाले पुरुष के द्वारा उपासित होते हैं।

एक शब्द के अनेक रूपों (polyptoton) और अन्य दूसरे प्रकार की पुनरुक्तियों का मिलाजुला रूप कुछ मन्त्रों में पाया जाता है। जैसे-

आ त्वा हरयो वृषणो युजाना वृष रथासो वृषरश्मयोऽत्याः।
अस्मत्राञ्चो वृषणो वज्रवाहो वृष्णे मदाय सुयुजो वहन्तु॥
ऋ. 6.44.19

(त्वा) तुझे (हरयः वृष्णे) ये इन्द्रियाश्व शक्ति का सेचन करने वाले (मदाय आ वहन्तु) उल्लास के जनक सोमपान के लिए समन्तात् कार्यों में प्राप्त करायें (वृषा) और यह सोम हमें हर्ष देने वाला हो (मद)। हमारे इन्द्रियाश्व (वृषणः) शक्ति का अपने में सेचन करने वाले हों, (युजानाः) शरीर रथ में जुते हुए हों। (वृषरथासः) शक्तिशाली शरीररूप रथ वाले (वृषरश्मयोः) शक्तिशाली मनरूप लगाम वाले व (अत्याः) निरन्तर गतिशील हों।

अध्याय-14

पूर्व प्रचलित (कथित) शब्दों/वाक्यों की व्याख्यात्मक रूप से पुनरुक्ति (Explicative Conduplication)

Conduplication - पूर्व निर्मित या याद किए गए शब्दों/वाक्यों द्वारा स्तुति।

जे. खोंदा ने इसे Reinforced Repitition भी कहा है, इसका तात्पर्य है पुष्ट भाग की पुनरावृत्ति। सामान्यतया इसमें विस्मयबोधक वाक्य आते हैं, जैसे-"धूर्त आदमी! अद्‌भुत धूर्त आदमी"।

इसमें पहला वाक्य, जो कि विस्मयबोधक होता है, एक छोटा वाक्य हो सकता है, परन्तु दूसरा वाक्य जिसमें पूर्व वाक्य की पुनरुक्ति होती है, वह सामान्यतया बड़ा और स्पष्ट व्याख्यात्मक होता है। जैसे-

सुन्वानो हिष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः।

ऋ. 1.133.7 (मन्त्रांश)

(सुन्वानः) यह सोम (हि स्म द्विषः) निश्चय से द्वेषादि शत्रुओं को (अवयजति) दूर करता है (देवानां द्विषः अव) दिव्य भावनाओं के दुश्मनों को अपने से दूर करता है।

अहेडमान उरुशंस सरी भव वाजे वाजे सरी भव।

ऋ. 1.138.3 (मन्त्रांश)

हे (उरुशंस) खूब स्तवन किए जाने वाले प्रभो! (अहेडमान सरी भव) हम पर क्रोध न करते हुए आप हमें प्राप्त होवो। (वाजे वाजे सरी भव) प्रत्येक संग्राम में हमें प्राप्त होवो।

गावो न यूथमुप यन्ति वध्रय उप मा यन्ति वध्रयः। ऋ. 8.46.30

(न गावः यूथम्) जिस प्रकार गौवें अपने रक्षण के लिए गोसमूह में आ जाती हैं, उसी प्रकार (वध्रयः उपयन्ति) अपने को व्रतों की रज्जु में बाँधने वाले संयमी

लोग अपने रक्षणों हेतु प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं। प्रभु कहते हैं कि ये (वध्रय: मा उपयन्ति) संयमी पुरुष मुझे समीपता से प्राप्त होते हैं।

अध्याय-15

विचार-शृंखला/घटनाक्रम की अनेक पुनरुक्तियाँ

इस अध्याय में पदों के समूह अथवा अर्धर्चों की पुनरुक्ति का विषय लिया गया है। जे. खोंदा ने बताया है कि ब्लूमफील्ड के अनुसार इस प्रकार की पुनरुक्ति अथर्ववेद में प्राय: हुयी हैं, जैसे-

इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्।

अथर्व. 1.23.1 (मन्त्रांश)

हे (रजनि) शरीर को पुन: ठीक रंग प्रदान करने वाली ओषधे! तू (यत् किलासम्) जो श्वेत कुष्ठ का धब्बा है (च पलितम्) और त्वचा में आ जाने वाली सफेदी है (इदम् रजय) इसे फिर से रंग दे।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।

अथर्व. 1.23.2 (मन्त्रांश)

(किलासम् च पलितम्) श्वेत कुष्ठ के धब्बों और त्वचा की व्यापक सफेदी को (चृ पृषत्) तथा अन्य धब्बों को (इत: नि नाशय) यहाँ से बाहर कर दे।

जे. खोंदा ने ब्लूमफील्ड के कथन को उद्‌धृत करते हुए कहा है कि अथर्ववेद में पुनरुक्ति का व्यवस्थित क्रम देखा जा सकता है, उन्होंने निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है-

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृद:।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै।। अथर्व. 6.42.1

सखायाविव सचावहा अव मन्यु तनोमि ते।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरु:।। अथर्व. 6.42.2

अथर्व. 6.118.1 (मन्त्रांश-द्वितीयपाद-प्रथमपद)-उग्रंपश्ये।

अथर्व. 6.118.2 (मन्त्रांश-प्रथमपाद-प्रथमपद)-उग्रंपश्ये।

इस प्रकार अनेक मन्त्रों के अन्तिम पद अग्रिम मन्त्रों के प्रथम पद के रूप में देखे जाते हैं।

ब्लूमफील्ड ने इस शैली को साहित्यशास्त्र के प्रभावोत्पादक उपकरण बताते हुए-साहित्य सौन्दर्य की वृद्धि और स्मरण का हेतु बताया है, जिसे जे. खोंदा ने

अस्वीकार किया है। एक पद की दूसरे मन्त्र में पुनरुक्ति को जे. खोंदा ने मन्त्रों की सम्बद्धता, समानता, समानान्तरता और परिस्थितियों का साम्य होना बताया है।

अन्य स्थानों पर पुनरुक्ति को पादों में संतुलन-हेतु भी प्रयुक्त किया गया है-

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु देवाय प्रस्तराय। अथर्व. 16.2.6

(ऋषीणां प्रस्तरः असि) ऋषियों का शरीर प्रस्तर (दृढ़, पत्थर के समान) हो जाता है। (नमः अस्तु देवाय प्रस्तराय) उस महान् देव (परमात्मा) के लिए प्रस्तर तुल्य शरीर को उचित आदर भाव हो।

स देवानामीशां पर्यैत्स ईशानोऽभवत्। अथर्व. 15.1.5

(सः देवानाम् ईशां पर्यैत्) वह सब देवों की ऐश्वर्य शक्ति को व्याप्त करने वाला हुआ। इसी से (सः ईशानः अभवत्) वह ईशान हो गया।

ईशोपनिषद् के शान्ति पाठ का उद्धरण (निम्न रूप में) देते हुए उसे अति पुनरुक्ति का रूप बताया गया है-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

प्राचीन वैदिक ऋषियों की एक शैली रही है जिसमें वे अपने विचारों, भावों की शृंखला को दो या अधिक मन्त्रों के माध्यम से प्रकट करते हैं, जिससे कुछ पदों की पुनरुक्ति स्वाभाविक है, जैसे-

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥ ऋ. 10.162.1

(ब्रह्मणा अग्निः) ज्ञान से दीप्त कुशल वैद्य (संविदानः) खूब ज्ञानी बनता हुआ (रक्षोहा) रोग कृमियों का नाश करने वाला है (बाधताम् इतः) शरीर के रोग को रोककर दूर करने वाला हो। (यः अमीवा ते गर्भं आशये) जो रोग तेरे गर्भ-स्थान में निवास करता है, (यः दुर्णामा) जो अशुभ नाम वाला बवासीर (ते योनिम्) तेरी रेतस् के आधान स्थान को अपना आधार बनाता है, उसे भी यह दूर करे।

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥ ऋ. 10.162.2

अतः इन दोनों मन्त्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि ऋ. 10.162.1 के अन्तिम पाद के कुछ शब्दों का क्रम बदलते हुए मन्त्र सं. 10.162.2 के प्रथम पाद में रखा गया है। परन्तु अवलोकन से यह भी ज्ञात होता है कि मन्त्र सं. 10.162.1

आदेश सूचक (Imperative) तथा मन्त्र सं. 10.162.2 में कोई अवधि नहीं है। (Aorist - past tense of the Verb, Where ther is no duration)।

निम्न उदाहरणों में दोनों मन्त्रों का आशय लगभग एक ही है, पुनरुक्ति पर्यायवाची शब्दों के द्वारा की गयी है-

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये। स चेत्ता देवता पदम्॥

ऋ. 1.22.5

अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि। तस्य व्रतान्युश्मसि॥

ऋ. 1.22.6

इसी प्रकार की पुनरुक्ति निम्न मंत्रों में प्राप्त होती है-1.109.7:8, 5.87.8:9, 8.73.14:15, 9.3.7:8, 9.67.19:20, 3.39.1:2, 9.50.4:5

निम्न दो मन्त्रों में कुछ शब्द-समूह ठीक अपने स्थान पर रखकर पुनरुक्त किए गए-4.37.7:8 "**नो वाजा ऋभुक्षणः**"- ये दोनों मन्त्रों में आए हैं। दो या तीन शब्दों की पुनरुक्ति निम्न मन्त्रों में की गयी है-

स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान। ऋ. 3.21.1

घृतवन्तः पावका ते स्तोका श्चोतन्ति मेदसः। ऋ. 3.21.2

मुख्य और सहायक वाक्यों में एक ही शब्द की पुनरावृत्ति

इस प्रकार की शब्द पुनरावृत्ति के उदाहरण निम्न प्रकार हैं-

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव॥

ऋ. 1.35.11

(सवितः ये ते पन्थाः पूर्व्यासः अरेणवः) हे सूर्य देव जो तेरे मार्ग पूर्णता को प्राप्त कराने वाले धूल से रहित (सुकृता अन्तरिक्षे) उत्तमता से बने हुए इस अन्तरिक्ष लोक में हैं (तेभिः सुगेभिः पथिभिः) उन उत्तम स्थिति को प्राप्त कराने वाले मार्गों से (अद्य नः रक्ष) आज हमें रक्षित कीजिए, (च देव नः अधि ब्रूहि) और हे प्रकाश प्रदान कराने वाले सूर्यदेव हमें आधिक्येन उपदेश दीजिए।

या आपो दिव्या उत वा स्त्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥

ऋ. 7.49.2

(याः आपः दिव्याः उत वा स्त्रवन्ति) जो जल धारायें आकाश में उत्पन्न या सूर्य विद्युतादि से उत्पन्न और जो बहती हैं जो (खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः) जो

खोदकर प्राप्त की जाय और जो स्वयं भूमि से उत्पन्न हुयी हों, जो समुद्र आकाश से आने वाली या समुद्र को जाने वाली (याः समुद्रार्थाः), (शुचयः पावकाः आपः देवीः इह माम् अवन्तु) शुद्ध पवित्र करने वाली जल धारायें हैं, वे उत्तम गुणों से युक्त होकर इस राष्ट्र में मेरी रक्षा करें।

नोट–मन्त्र सं. 7.49.1 से 7.49.4 तक प्रत्येक मंत्र में 'आपो देवीरिह मामवन्तु' टेक (refrain) है।

वैदिक संहिताओं में एक ही शब्द की कम अन्तराल पर पुनरावृत्ति देखी जाती है–कुछ का विवरण निम्न प्रकार हैं–

1) ऋ. 3.59 जिसका देवता मित्र है, में ईश्वर के नाम आठ (8) बार प्रारम्भ में और चार (4) बार मध्य में आए हैं। इसमें नौ (9) मन्त्र हैं।
2) ऋ. 10.14 जिसका देवता यम है, सोलह (16) मन्त्र हैं, में यम नाम छः (6) बार आया है।
3) ऋ. 10.129 के दो मन्त्रों में, जिसका देवता भाववृत्तम् है, प्रश्नवाचक सर्वनाम नौ (9) बार आया है।
4) ऋ. 7.63 – जिसका देवता सूर्य है, छः (6) मन्त्रों में पाँच बार "उद्इति" की पुनरावृत्ति हुयी है।

एक ही वाक्य में पुनरुक्ति

एक ही वाक्य में शब्दों/पदों की पुनरुक्ति पायी जाती है, या तो यह असावधानी के कारण या श्रोता का ध्यान आकर्षित करने हेतु होता है–एक उल्लेखनीय उदाहरण इस प्रकार है–

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः॥
ऋ. 1.8.4

विशेषण की पुनरुक्ति

एक ही विशेषण को मन्त्रों में पुनरुक्त किया जाना पाया जाता है। प्रशंसा, घृणा और अन्य गुणों आदि को प्रबलता से दिखाने हेतु इस प्रकार का प्रयोग होता है। जैसे–

स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति। छा.उप. 5.18.1

उद्धरण (दृष्टान्त-Quotations)

अपने कथन को प्रामाणिकता के आधार पर पुष्ट करने हेतु, संवाद में प्रश्न

और उत्तर की प्रक्रिया में उत्तर को समृद्ध बनाने हेतु उद्धरणों का प्रयोग किया जाता है, जैसे–

अथर्व. 15.10.4, ऋ. 1.75.3:4, 5.44.14

अथर्व. 10.2.22:23, 16.2.4

शृंखलाबद्धता (Catena)

किसी मन्त्र से सम्बद्ध क्रमागत अग्रिम मन्त्र, जिसके द्वारा पिछले मन्त्र की विषयवस्तु की व्याख्या अग्रिम मन्त्र में होने के फलस्वरूप पदों/पादों की पुनरुक्ति स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ–

अथर्व. 13.1.46, 13.1.47

ऋ. 10.98.2

छा.उप. 7.42

सम्भाषण में शब्दों की पुनरुक्ति

परस्पर संवाद में प्रश्न और उत्तर के क्रम में शब्दों की पुनरुक्ति होती है– उदाहरणार्थ–

छा.उ. 1.8.3 – हन्त त्वा पृच्छानीति, पृच्छेति होवाच।
(पृच्छानि–पूछूँ, पृच्छ इति–पूछो)

संक्षिप्त वाक्य सम्बन्ध (Recapulative Sentence Connection)

असाधारण रूप से दीर्घ वाक्यों या कथन जो वक्ता तथा श्रोताओं दोनों के लिए उबाऊ होता है, बुद्धिमत्ता पूर्वक समस्त सारगर्भित तथ्यों को समेटते हुए प्रस्तुत करने की शैली को व्यक्त करना इस अध्याय का उद्देश्य है।

वैदिक संस्कृत या वेदों में इस शैली का प्रयोग बहुधा पाया जाता है, जिसमें दो कथनों को शुद्धता के साथ जोड़ते हुए द्वितीय स्थान पर क्रिया विशेषण शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसे–

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥ ऋ. 10.109.6

(पुनर्वै देवा अददु:) फिर देव वृत्ति के पुरुष इस ब्रह्मजाया और अन्यों को देने वाले होते हैं, इस प्रकार वानप्रस्थ अपने पाठनरूप नियतकर्म को करता है। (पुन: मनुष्या: उत) फिर इस वेद वाणी को और ये विचारशील पुरुष (राजान: सत्यं

कृण्वानाः) बड़े व्यवस्थित जीवन वाले ये लोग सत्याचरण करते हुए (ब्रह्मजायां पुनर्ददुः) इस वेदवाणी को फिर से औरों के लिए देने लगते हैं।

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्विषम्।
उर्जं पृथिव्याभक्त्वायोरुगायमुपासते।। ऋ. 10.109.7

(ब्रह्मजायां पुर्नदाय देवैः निकिल्विषं कृत्वी) वेदवाणी को फिर से औरों के लिए देकर, दिव्य गुणों के धारण से अपने जीवन को पापरहित करके (पृथिव्याः ऊर्जम् भक्त्वाय उरुगायम् उपासते) इस पृथिवी रूपी शरीर को बल और प्राणशक्ति से सेचन करके खूब ही गायन के योग्य प्रभु की उपासना करते हैं।

प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति।। छा.उप. 1.4.5

(प्रविशति तत्प्रविश्य) जो प्रवेश कर उस अक्षर में लीन हो जाता है (ओम् में) (यद् अमृताः देवाः तत् अमृतः भवति) - उसमें (ओंकर अक्षर की महिमा को जानकर) लीन होकर जैसे देव अमृत हो गए, वैसे वह भी अमृत हो जाता है।

यदि प्रथम वाक्य का विषय प्रारम्भिक बिन्दु हो और उसके बाद के वाक्य में विचारों को प्रकट किया गया हो तो विषय को प्रकट करने वाली संज्ञा की पुनरुक्ति पायी जाती है, जैसे–

पिता पुराणाँ अनुवेनति। ऋ. 10.135.1 (मन्त्रांश)

पुराणां अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया असूयन्नभ्यचाकशम्।
ऋ. 10.135.2 (मन्त्रांश)

अध्याय-16

शब्दों का दुहराव - शब्द समूह और वाक्य

इस अध्याय के अन्तर्गत शब्दों की पुनरावृत्ति, पुनरुक्ति और आवृत्ति की बारम्बारता (frequency) पर जे. खोंदा ने प्रकाश डाला है। समान या लगभग समान शब्दों की पुनरावृत्ति को ही पुनरुक्ति कहा गया है। इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है–

पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना।।
ऋ. 1.92.10

(पुनः पुनः जायमाना) फिर-फिर प्रतिदिन प्रादुर्भूत होती हुयी (पुराणी) सनातन काल से चली आ रही उषा (समानं वर्णं अभिशुम्भमाना) एक ही रूप को प्राप्त करके शोभा वाली होती है।

ऋग्वेद में – पदे-पदे, गृहे-गृहे, दमे-दमे, वने-वने, अहर-अहर, गात्रे-गात्रे, जने-जने, रणे-रणे इत्यादि शब्द पाद के प्रारम्भ या अन्त में रखे गए हैं, जो विचारणीय होने के साथ-साथ विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करते हैं।

निम्न मन्त्रों में शब्दों/पदों की पुनरुक्ति से ध्वनि की आवृत्ति विशेष आकर्षण उत्पन्न करती है-

पदे पदे पाशिनः सन्ति सेतवः। ऋ. 9.73.4 (मन्त्रांश)

कदम-कदम पर (पाशिनः) काम-क्रोध आदि पशुओं को पाश में बाँधने वाले (सेतवः सन्ति) भव सागर से पार करने हेतु पुल के समान होते हैं।

प्रातर्यावाणं विभ्वं विशे विशे वस्तोवस्तोः वहमानं धिया शमि।

ऋ. 10.40.1 (मन्त्रांश)

प्रभु (प्रातर्यावाणं) प्रातः प्राप्त होने वाला है (विशे-विशे विभ्वम्) प्रत्येक प्रजा में प्राप्त होने वाला है (वस्तो-वस्तोः) प्रतिदिन (धिया) ज्ञानपूर्वक (शमि वहमानम्) यज्ञादि उत्तम कर्मों में हमे प्राप्त कराता है।

इसी प्रकार ऋ. 6.47.11, 7.38.8, 10.91.2 में भी इस प्रकार की पुनरावृत्ति है। इससे निष्कर्ष प्राप्त होता है कि इस प्रकार के शब्दों की पुनरावृत्ति सामान्यतया वाक्य-रचना हेतु की गयी है, न कि शैलीगत उपकरणों का प्रयोग किया गया है। कुछ मन्त्रों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

स दर्शत श्रीरतिथि र्गृहेगृहे वने वने शिश्रिये तक्ववीरिव।
जनंजनं जन्यो नाति मन्यते विश आ क्षेति विश्यो विशंविशम्।।

ऋ. 10.91.2

(स दर्शत श्रीः) वे प्रभु दर्शनीय शोभा वाले हैं (गृहे गृहे अतिथिः) वे प्रभु प्रत्येक घर में आने वाले हैं, वे प्रभु (तक्ववीःइव वने वने शिश्रिये) तीव्र गति से प्रत्येक उपासक में आश्रय करते हैं। (जन्यः जनं जनं न अति मन्यते) सब जनों का हित करने वाला वह प्रभु किसी भी मनुष्य को छोड़ नहीं जाता। (विश्यः विशः आक्षेति) सब प्रजाओं का हित करने वाला वह प्रभु सब प्रजाओं में निवास करता है। वे प्रभु (विशं विशं) प्रत्येक प्रजा वर्ग को शासित करते हैं।

अन्य उदाहरण ऋ. 10.53.3, 10.163.6, अथर्व. 2.33.7 में भी उपलब्ध होते हैं।

ऋग्वेद में यह पुनरावृत्ति प्रायः जोड़े में (Pairs) में दो क्रमागत पादों में पायी जाती है, जैसे-

यज्ञा यज्ञा वः समना ततुर्वणिर्धियंधियं वो देवया उ दधित्वे।

ऋ. 1.168.1

हे प्राण साधक पुरुषो! (वः यज्ञा यज्ञा समना तुतुर्वणि) तुम्हारी प्रत्येक यज्ञ में समता त्वरा से विघ्नों व शत्रुओं का विजय करने वाली हो। (वः देवयाः उ धियं धियं दधिध्वे) आप देवों को प्राप्त कराने वाले निश्चय से प्रत्येक ज्ञान व उत्तम कर्म को धारण करते हो।

इस प्रकार के अन्य उदाहरण ऋग्वेद 6.48.1, 5.15.4, 9.55.1, 6.49.8, 8. 12.19, 6.15.6, 3.26.6 में प्राप्त होते हैं।

एक ही अर्धर्च में तीन स्थानों पर भी इस प्रकार की पुनरावृत्ति के उदाहरण मिलते हैं–

शर्धं शर्धं व एषां व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः।
अनुक्रामेम धीतिभिः॥ ऋ. 5.53.11

हम (एषाम् शर्धं शर्धं अनुक्रामेम) इन प्राणों अंग-प्रत्यंग में होने वाले उस-उस बल को अनुक्रमेण प्राप्त हों। हम इन प्राणों के (व्रातं व्रातं सुशस्तिभिः) प्रत्येक व्रत समूह को उत्तम स्तुतियों के साथ प्राप्त हों। (गणं गणं धीतिभिः) प्रत्येक गण (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण व अन्तःकरण) को उत्तम कर्मों के द्वारा अनुकूलता से प्राप्त करें।

इस सम्बन्ध में जे. खोंदा ने एक मत प्रकट किया है कि दैनिक जीवन और धार्मिक अवसरों पर परमात्मा का नाम एक बार से अधिक उच्चरित किया जाता है, जैसे अग्नि और फिर अग्नि......।

विशेषण शब्दों की पुनरावृत्ति सद्गुणों/दुर्गुणों को अधिकाधिक प्रकट करने के लिए की जाती है। जैसे-अल्पाल्प।

क्रिया विशेषणों को भी विशेष रूप से रेखांकित करने हेतु पुनरावृत्ति होती है।

भारतीय मुहावरों में इस प्रकार की पुनरावृत्ति प्रायः होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह बहुतायत से उपलब्ध है।

सम्बन्ध सूचक अव्ययों (उपसर्ग-preposition) की पुनरावृत्ति वेदों में प्रायः पायी जाती है-यह प्रयोग तथ्यों को प्रबल बनाने हेतु होता है, जैसे-

देवीर्द्वारो विश्रयध्वं सुप्रायणा न ऊतये।
प्रप्र यज्ञं पृणीतन॥ ऋ. 5.5.5

यह (देवीः द्वारः विश्रयध्वम्) प्रकाशमय उत्तम व्यवहारों के साधक हे इन्द्रिय द्वार! विशिष्ट रूप से इस देह में आश्रय करो। (नः ऊतये सुप्रायणा) हमारे रक्षण हेतु शुभ प्रकृष्ट गति वाले होवो। हे इन्द्रिय द्वारो! इस जीवन यज्ञ को (प्र प्र प्रणीतन) खूब अच्छी तरह पूर्ण करो।

इसके अन्य उदाहरण– ऋ. 1.129.8, 1.138.1, 1.150.3, अथर्व. 7.26.3

भावनात्मक शब्दों की पुनरावृत्ति – निम्न उदाहरण–

पत्नी पत्नय इश ते लोकः – हे पत्नी! पत्नी, यह तुम्हारी दुनिया है।

अन्य उदाहरण ऋ. 10.146.1, बृह.उप. 2.1.1

जनको जनक इति वै जना धावन्तीति। बृह.उप. 2.1.1

(जनकः जनकः) दाताजनक और उपदेष्टा जनक (इति वै जनाः धावन्ति इति) ऐसे सोचकर जिज्ञासु मनुष्य उसकी ओर दौड़ कर जा रहे हैं।

शब्द–पुनरावृत्ति का उदाहरण–जिसके पाद में अनुप्रास अलंकार है–

प्राणेभ्योऽपि प्रियाम् प्रियाम्। रामायण 2.26.8

प्राणो से प्रियतर और प्रियतम।

एक ही शब्द की पुनरावृत्ति का प्रबल उदाहरण निम्न प्रकार–

स्वर्णस्य स्वर्णस्य स्वर्णस्य स भाविनी।
रामेण प्रतिहम् देवी सुवर्णस्याङ्गुरियकम्।। रामायण 5.32.45

(बा.रा. के उपलब्ध संस्करण में यह श्लोक नहीं मिलता है, सम्पा.)

उत्तम सुशील राजकुमारी! राम ने यह अंगूठी सोने की बनी हुई (स्वर्णस्य) सुन्दर रंग की (सु–वर्ण) और अच्छी प्रकार से खुदे हुए अक्षर (सु–वर्ण) वाली आपको भेजी है।

भारतीय पुनरुक्ति–शैली में एक संज्ञा शब्द की पुनरुक्ति को प्रसंग के अनुसार 'यमक' अलंकार कहते हैं।

यः यः के बाद बिना पुनरुक्ति के पद/पाद देखे जाते हैं। उदाहरण–

यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति। छा.उप. 5.10.6

(यः यः) जो जो (हि अन्नम् अत्ति) भोज्य अन्न को खाता है, (यः रेतः सिञ्चति) जो वीर्य का सेचन करता है।

इसका अन्य उदाहरण छा.उप. 8.1.5 है।

धार्मिक कर्मकाण्डीय मन्त्रों में वाक्य उल्टे क्रम में प्रयोग होते पाए जाते है, उदाहरणार्थ–

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म। अथर्व. 16.9.3

(स्वः अगन्म) हमने वासनाओं को पराजित करके शरीर में रेतः कणों को

प्राप्त किया है, इनके दीप्त होने पर (स्वः अगन्म) हमने ज्ञान ज्योति को प्राप्त किया है। (सूर्यस्य ज्योतिषा सम् अगन्म) उस आदित्य वर्ण ब्रह्म की ज्ञानदीप्ति से हम संगत हुए हैं।

इसी प्रकार अग्निहोत्र में निम्न मन्त्र का प्रयोग किया जाता है-

अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्निः, सूर्यो ज्योतिः ज्योतिरग्नि स्वाहा।

अध्याय-17

पूरक शब्द समूह

व्याकरणीय दृष्टि से एक ही श्रेणी के दो शब्दों (पदों) का योग होने से मुहावरा या उक्ति बन जाता है-जैसे-सायं प्रातः, नृत्य और गान, प्रजया पशुभिः इत्यादि। सामान्यतया दोनों शब्दों की ध्वनियों में समानता होती है। इस अध्याय में मुख्य रूप से अर्थविज्ञान सम्बन्धी पदों को लिया गया है जहाँ दो अलग-अलग पद एक दूसरे के पूरक होते हैं। इनमें कुछ समानार्थक और कुछ विपरीतार्थक शब्दों या द्वन्द्व समूहों को लिया गया है।

समान पदों के युग्मों की एक लम्बी शृंखला है - जो निम्न रूप में हैं-

अथर्व. 2.15 (1-6) - द्यौः च पृथिवी च, अहः च रात्री च, सूर्य च चन्द्र च, ब्रह्म च क्षत्रं च, भूतं च भव्यं च।

अथर्व. 2.28.4 - द्यौ पिता पृथिवी माता।

अथर्व. 1.29.3, 3.8.3, 3.15.6, 6.40.1 सोम और सविता, सूर्य-चन्द्र।

अथर्व. 6.53.1 में प्रारम्भ में दो क्रमागत पद - प्राणापानौ।

अथर्व. 7.53.2 में-मनसा हृदयेन च।

अथर्व. 6.141.3 में दो विरुद्ध श्रेणी के देवता-देवासुरेभ्यः, अन्य उदाहरण- 4. 10.5

अथर्व. 1.19 में चार मन्त्रों में पूरक शब्द समूहों का प्रयोग किया गया है। दो परस्पर विरोधी शब्द समूहों का प्रयोग-

ठंडा और गरम, आनन्द और दुःख, इस प्रकार के शब्द समूहों को द्वन्द्व कहा गया है। इस प्रकार के द्वन्द्व समूह भारतीय साहित्य में बहुत मिलते हैं।

वैदिक साहित्य में पूरक शब्द-समूहों का निम्न प्रकार प्रयोग किया गया है-

अहर्निशम्, अहोरात्रिः, नक्तम् दिवम्, दिवानक्तम् च।

कभी-कभी ये पूरक शब्द समूह प्रसंग के अनुसार किसी की उपाधियों और विशेषणों हेतु पुनरुक्त किए जाते हैं, जैसे-

यो गाधेषु य आरणेषु हव्यो वाजेष्वस्ति हव्यः॥

ऋ. 8.70.8 (मन्त्रांश)

(यः गाधेषु) जो प्रभु प्रतिष्ठा को प्राप्त कराने वाले कार्यों में (हव्यः) पुकारने योग्य हैं (यः आरणेषु) जो प्रभु आनन्दमय रमणीय कार्यों में भी पुकारने योग्य हैं, वे प्रभु ही (वाजेषु हव्यः अस्ति) संग्रामों में पुकारने योग्य हैं।

इसके उदाहरण अथर्व. 4.20.4, 3.3.6, 7.60.4 और ऋ. 6.75.19 हैं।

निम्न उदाहरण जिसमें दो क्रिया-शब्दों का एक ही वस्तु हेतु प्रयोग किया गया है और 'च' से जुड़े हैं-

अवंशे द्यामस्तभायद् वृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥

ऋ. 2.15.2

(अवंशे द्याम् अस्तभायद्) आधाररहित आकाश में देदीप्यमान सूर्य को वे प्रभु थामते हैं और (रोदसी बृहन्तम् अन्तरिक्षम्) द्यावापृथिवी को तथा विशाल अन्तरिक्ष लोक को (आ अपृणत्) तेज व प्रकाश से पूरित कर देते हैं। (स पृथिवीम् धारयत् च पप्रथत्) वे प्रभु ही इस पृथिवी को धारण करते हैं और विस्तृत करते हैं। (इन्द्रः प्रभु सोमस्य मदे चकार) वे परमैश्वर्यशाली प्रभु सोम के उल्लास में उन महत्वपूर्ण कार्यों को करते हैं।

अध्याय-18

शब्दों व विचारों की पुनरुक्ति (Perseveration)

एक ही विषय पर बल देने हेतु वैदिक ऋषियों द्वारा एक ही शब्दों और विचारों की पुनरुक्ति किया जाना वेदों में जहाँ-तहाँ परिलक्षित होता है, उदाहरण-

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध॥

अथर्व. 3.15.5

उपर्युक्त मन्त्र में 'धन' शब्द की तीन बार पुनरावृत्ति हुयी है, धन से धन अर्जित करने की प्रार्थना की भी पुनरुक्ति की गयी है।

इसी सम्बन्ध में निम्न दो मन्त्रों का सन्दर्भ दिया गया है-

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम्॥ अथर्व. 3.29.4

(पञ्चापूप) पञ्च अपूप-राष्ट्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद अथवा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, मध्य (शितिपादम्) शुद्ध गति वाले विषयों में अनासक्त (अविम्) रक्षक राजा को (लोकेन संमितम्) लोगों के प्रतिनिधियों से राष्ट्रसभा में निर्धारित कर का (प्रदाता) देने वाला (पितॄणाम् लोके अक्षितम् उपजीवति) रक्षक राजपुरुषों के लोक में अक्षीणता के साथ जीवन धारण करता है।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम्॥ अथर्व. 3.29.5

सूर्यामासयोः-सूर्य चन्द्रमा के लोक में (मस्यते क्षयवृद्धिभ्यां परिमीयते इति मासः चन्द्रमाः)।

इस प्रकार मन्त्र सं. अथर्व. 3.29.5 पूर्व मन्त्र की लगभग पुनरुक्ति है।

इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों का भी सन्दर्भ दिया गया है, जो निम्न हैं- अथर्व. 2.35.1, 2 : 2.7.4, 5, अथर्व. 4.26.2, 1

इन मन्त्रों में विशेषणों (उपाधियों) पर बल देते हुए पुनरुक्ति की गयी है, तथा कुछ मन्त्रों में टेक (refrains) से पुनरुक्ति की गयी है।

अथर्व. 3.6.1, 3, 5 में-**द्वेष्मि ये च माम्**-को टेक के रूप में पुनरुक्त किया गया है।

अथर्व. 4.29.1, 2 में-**सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे**-की पुनरुक्ति है।

अथर्व. 4.29.1, 2, 3, 4, 5, 6, 7 सभी सात मन्त्रों में-**तौ नो मुञ्चतमंहसः** की टेक में पुनरुक्ति की गयी है।

निम्न मन्त्रों में प्रथम पंक्ति के प्रथम पद की आवृत्ति निम्न प्रकार है-

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥ अथर्व. 3.19.1

(मे इदं ब्रह्म संशितम्) मेरा यह ज्ञान सम्यक् तीक्ष्णता को प्राप्त हो। (वीर्यं बलं संशितम्) मेरा वीर्य, प्राणमय व मनोमय कोश की शक्ति तीक्ष्ण हो (येषां जिष्णुः क्षत्रम्) जिनका मैं जयशील पुरोहित हूँ, उनकी क्षतों से रक्षण की शक्ति क्षात्रबल (संशितम् अजरं अस्तु) तीक्ष्ण हो और कभी जीर्ण न होने वाला हो।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यम् बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्। अथर्व. 3.19.2

(अहं एषां राष्ट्रं संस्यामि) मैं इनके राष्ट्र को सम्यक् तीक्ष्ण करता हूँ। (ओजः सम् वीर्यं बलम्) इनके ओज को तीक्ष्ण करता हूँ और इनके प्राणमय कोश को वीर्यवान् बनाता हूँ, इनकी शत्रुनाशक शक्ति को भी तीक्ष्ण करता हूँ। (अनेन हविषा अहं शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) इस हवि के द्वारा (त्याग के द्वारा) मैं शत्रुओं की बाहुओं को काट डालता हूँ।

जे. खोंदा के अनुसार इन दोनों मन्त्रों में हुयी पुनरुक्ति से जिन भावों को प्रदर्शित किया गया है, वह अन्य किसी प्रकार उतना प्रभावशाली न होता।

कुछ अन्य प्रकार की मन्त्र शृंखलायें–जिनमें पुनरुक्ति हुयी है–निम्न प्रकार है–

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्।।

अथर्व. 6.107.1

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि।
विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्।।

अथर्व. 6.107.2

विश्वजित्कल्याण्यै मा परि देहि।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्।।

अथर्व. 6.107.3

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्।।

अथर्व. 6.107.4

श्री हरिशरण सिद्धान्तालंकार के अनुसार उपर्युक्त चारों मन्त्रों का भाव निम्न प्रकार है–

1) प्रभु हमें ऐसा घर प्राप्त करायें जो हमारा रक्षण करने वाला हो।
2) इस घर में सुरक्षित रहते हुए हम विश्वजित् प्रभु का स्मरण करें।
3) प्रभु हमें याग आदि शुभ क्रियाओं में प्रेरित करें।
4) ये शुभ क्रियायें हमें प्रभु को प्राप्त कराने वाली हों।

इन चारों मन्त्रों में पदों/पादों की पुनरुक्ति के अतिरिक्त टेक (refrains) भी हैं।

इसी प्रकार की पुनरुक्ति अथर्व. के मन्त्र सं. 3.21.8 और 9 में तथा अथर्व. के सूक्त सं. 4.7 के मन्त्रों 5–4 और 3–4 में है। अथर्व. 5.10.1–7, प्रत्येक सात मन्त्रों में कुछ पदों को छोड़कर शेष समस्त पदों की पुनरावृत्ति है।

बहुत से मन्त्रों मे समानान्तर अर्धर्चो/पादों में ऐसे शब्दों/पदों की पुनक्ति पायी जाती है, जिनके अर्थों में विशेष असमानता नहीं होती या परस्पर पर्यायवाची पद रखे गए हैं, जैसे-

ये सहस्त्रम् अराजन् आसन् दशशताः उत।

अथर्व. 5.18.10 (मन्त्रांश)

सहस्त्रम्-हजार, दशशताः-दस सौ।

अध्याय-19

मन्त्र-पदों/पादों के आकार में वृद्धि (Amplification)

पदों/पादों के आकार में वृद्धि कर उसे प्रस्तुत करना - इस अध्याय का विषय है। वैदिक मन्त्रों में यह बहुतायत से प्राप्त होता है, जैसे-

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं। ऋ. 4.26.1 (मन्त्रांश)

स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्। छा.उप. 8.7.1

इदं वा व तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता
ब्रह्मप्रब्रूयात्प्रणाय्याय वाऽन्ते वासिने। छा.उप. 3.11.5

(इदं वा व तत् ज्येष्ठाय पुत्राय)-इस ही उस (ज्ञान को बड़े पुत्र को) (पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्) पिता ब्रह्म (ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान) को उपदेश करे। (प्रणाय्याय वा अन्ते वासिने) विनीत व आज्ञाकारी व शिष्य को।

तद् द्यौश्च धत्तां पृथिवी च देवी। ऋ. 4.51.11

(तद् द्यौः च) उस हमारे यश को मस्तिष्क रूप द्युलोक और (देवी पृथिवी धत्ताम्) यह गतिमय पृथिवीरूप शरीर धारण करें।

अन्य उदाहरण अथर्व. 8.1.12, छा.उप. 8.7.3, मनु. 2/76, 3/54, गीता 10/2

कभी-कभी व्याख्यात्मक भाग को 'एव' पद से विशेष प्रकाशित किया जाता है।

इस प्रकार के पदों के संयोग करने से विवाद एवं व्याख्या होती है, उदाहरण-

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।

ऋ. 2.12.8 (मन्त्रांश)

(यं संयती क्रन्दसी) जिसको सम्यक् गति वाले परस्पर आह्वान सा करने वाले द्युलोक व पृथिवी लोक (विह्वयेते परे अवरे उभयाः अमित्राः) विविध रूप में पुकारते

हैं, उत्कृष्ट योग मार्ग पर चलने वाले, दोनों परस्पर स्नेह न करने वाले शत्रु विजय पाने हेतु उस प्रभु को ही पुकारते हैं।

अध्याय-20

सारूप्यता/समानता (Identifications)

अरोचक पुनरुक्तियों की शैली और विभिन्न श्रेणी के देवताओं के सम्बन्ध प्रायः इस प्रकार व्यवस्थित किए जाते हैं जो दुर्बोध कर्मकाण्डों हेतु सम्पादित किए जा सकें, जो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अथर्ववेद 5.9.7 में मनुष्य की नक्षत्रीय शक्तियों से सारूप्यता दर्शायी गयी है, जो निम्न है-

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणेऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्॥

अथर्व. 5.9.7

(सूर्यः मे चक्षुः) सूर्य ही मेरी आँख है, (वातः प्राणः) वायु ही प्राणरूप में मुझमें निवास करता है, (आत्मा अन्तरिक्षम्) मेरा मन विराट् शरीर का अन्तरिक्ष है, (पृथिवी शरीरम्) शरीर पृथिवी के समान दृढ़ है।

अन्य स्थान अथर्व. 6.10.1-3 पर पृथिवी, वायुमण्डल, आकाश से मनुष्य की सारूप्यता, सुनने, सांस लेने, व दृष्टि के लिए, तथा वनस्पतियों और पक्षियों के साथ दर्शायी गयी है, जो निम्न रूप में है-

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा॥ अथर्व.6.10.1

मैं इस पृथिवी के लिए अपना अर्पण करता हूँ। ज्ञान के श्रवण के लिए अपने को अर्पित करता हूँ। वनस्पतियों के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। अग्नितत्त्व के लिए अपना अर्पण करता हूँ। यह अग्नि तत्त्व ही तो (अधिपतये) इस पृथिवी का अधिपति है।

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा॥ अथर्व. 6.10.2

मैं हृदयान्तरिक्ष के लिए अपना अर्पण करता हूँ। (वयोभ्यः) इन प्राणों को पक्षी तुल्य जानता हुआ, इन पक्षियों के लिए अपना अर्पण करता हूँ। इस हृदयान्तरिक्ष के (वायवे अधिपतये) अधिपति वायु हेतु मैं अपना अर्पण करता हूँ।

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा॥ अथर्व. 6.10.3

द्युलोक (दिवे) के लिए अपना अर्पण करता हूँ। चक्षु हेतु अपना अर्पण करता हूं। नक्षत्रों के लिए मैं अपना अर्पण करता हूं। (सूर्याय अधिपतये) अधिपति सूर्य हेतु अर्पण करता हूँ।

अथर्ववेद 5.24.1-14 में विभिन्न देवताओं की स्तुति की गयी है, इन सभी देवताओं को अधिपति कहा गया है। एक ही स्तुति/प्रार्थना को, विभिन्न देवताओं को, उनके नाम बदल कर (जैसे-सविता, वनस्पति, दाताओं, जल, मित्रावरुण, मरुत, सोम, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, मृत्युः, यम्) कुछ पदान्तर करते हुए प्रयुक्त किया गया है।

इस प्रकार विभिन्न देवताओं के नाम बदल कर, कर्मकाण्ड के प्रसंग के अनुसार स्तुति/प्रार्थना की एक ही शैली रखी गयी है।

अध्याय-21

क्रमागत पदान्तों में शब्दों या उक्तियों की पुनरुक्ति (Epiphora)

अगले क्रम में आने वाले वाक्यों के अन्त में शब्दों या उक्तियों की पुनरुक्ति को (Epiphora) कहते हैं। टेक और इसके बीच कोई निश्चित तौर पर अन्तर नहीं किया जा सकता है। प्रबल उच्चारण या उक्तियों की पुनरुक्ति हो जाती है। उदाहरण-

विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु उत्तमेषु अनुत्तमेषु लोकेषु इदं वाव तद् यद् अस्मिन् अन्तः पुरुषे ज्योतिः तस्या एषा दृष्टिः।

छा.उप. 3.13.7

इस पिण्ड और द्युलोक रूपी ब्रह्माण्ड से परे ब्रह्म ज्योति प्रदीप्त हो रही है, जो संसार की सब वस्तुओं की पृष्ट पर चारों तरफ चमक रही है-जो सबसे ऊँचे लोकों में और जिनसे परे कोई ऊँचा नहीं है, उन लोकों में भी प्रदीप्त हो रही है।

यह ही वह है जो यह इस जीव-पुरुष के अन्दर ज्योति है, उस ज्योति को इस प्रकार देखना प्रत्यक्ष दर्शन है।

अन्य उदाहरण-छा.उ. 1.13.1, 7.9.1

चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ ते गावौ तिस्त्रस्तेऽन्या इति।

शत.ब्रा. 3.3.3.4

अध्वर्यु कहता है, सोना तुम्हारा हुआ, वस्त्र तुम्हारा हुआ, बकरी तुम्हारी हुयी, एक बैल का जोड़ा तुम्हारा हुआ तीन और गायें तुम्हारी हुयीं।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्। अथर्व. 2.31.2 (मन्त्रांश)

(दृष्टम् अदृष्टम् अतृहम् अथ उ) आखों से दिखने वाले, न दिखने वाले को

मैं निश्चय से नष्ट करता हूँ (कुरूरुम् अतृहम्) पृथिवी पर रेंगने वाले या कुत्सित शब्द करने वाले कृमियों को नष्ट करता हूँ।

वाक्यों के पूर्व पक्ष को भी दृढ़ करता है–जैसे–

सुमत्यौ मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः॥ अथर्व. 6.13.2 (मन्त्रांश)

(सुमत्यौ मृत्यो ते नमः) हे मृत्यो! तेरी कारणभूत सुमति के लिए भी नमस्कार हो, केवल सुमति हमें शरीर के प्रति उदासीन करके मृत्यु की ओर ले जाती है और तेरी (ते दुर्मत्यै इदं नमः) कारणभूत दुर्मति के लिए यह नमस्कार हो। दुर्मति तो सदा मृत्यु का कारण बनती है।

अक्रमागत पदों/पादों में भी होता है, जैसे–

अथर्व. 1.31.4, 4.11.8, 5.18.1,3,2, 7.50.1 इत्यादि।

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ्ङ समाहितः॥ अथर्व. 4.11.8

का स्वतन्त्र रूप भी निम्न मन्त्र में परिलक्षित होता है–

यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।
अथर्व. 1.25.3 (मन्त्रांश)

हे ज्वर! यदि तू (शोकः असि) बाह्य सम्पत्ति व सन्तान के नाश से होने वाले शोक का परिणाम है (यदि वा अभिशोकः असि) अथवा किन्हीं आन्तरिक व बाह्य दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाले शोक का परिणाम है (यदि वा वरुणस्य राज्ञः पुत्रः असि) अथवा वरुण राजा का पुत्र है।

एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति। गीता 5/5

जो (साख्यं च योगं च) जो ज्ञान योग और निष्काम कर्म योग को एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥ ऋ. 10.109.6

(देवा वै पुनः अददुः) देववृत्ति के पुरुष निश्चय से इस ब्रह्म जाया को औरों के लिए देने वाले होते हैं। (उत मनुष्याः पुनः) और ये विचारशील पुरुष फिर इस वेदवाणी को देते हैं। (राजानः सत्यम् कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनः ददुः) बड़े व्यवस्थित जीवन वाले ये लोग सत्य को करते हुए इस वेदवाणी को फिर से औरों के लिए देने लगते हैं।

कुछ अन्य स्थलों पर मध्य और अन्त के पदों में समानता होती है–जैसे–

अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम्। अथर्व. 6.57.3 (मन्त्रांश)

समुच्चयबोधक शब्दों (Conjunction) की पुनरावृत्ति बहुधा होती है–जैसे–

देव आ मर्त्येष्वा। ऋ. 8.11.1 (मन्त्रांश)

अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां। अथर्व. 15.10.3 (मन्त्रांश)

इस प्रकार निश्चयपूर्वक ब्रह्म और क्षत्र दोनों उन्नत होते हैं।

अध्याय–22

निरुक्ति/शब्द-व्युत्पत्ति (Etymologies)

शब्दों की उत्पत्ति और परस्पर आपस में सम्बन्ध इस अध्याय का विषय है। शब्दों (पदों) के धातुओं को जानना, उनकी व्याख्या और विभिन्न परिस्थितियों में उनका औचित्य स्थापित करना उद्देश्य होता है।

अध्याय–23

गणना (Enumeration)

इस अध्याय में वाक्य-रचना और वैदिक शैलियों के प्रकार पर उदाहरण सहित प्रकाश डाला गया है। विभिन्न वस्तुओं के नाम, पदार्थों की संख्या, उनके गुण, विभिन्न घटनाएँ, अन्य विषय संक्षेप में समस्त विश्लेषणात्मक विचारों का प्रकटीकरण, ये समस्त मिलकर विभिन्न शब्द और शब्दों के समूहों की रचना करते हैं, इस प्रकार वाक्यों की रचना होती। शब्दों और वाक्यों की रचना को अनुप्रास, तुकान्त पदों और शब्दों की संख्या प्रभावित करती है। वाक्यों की विभिन्नताओं से शब्दों की पुनरुक्ति और समानशब्दों की उत्पत्ति सम्भावित होती है।

अध्याय–24

विशिष्ट व्यक्तिवाचक/निजीनाम – Proper Names

किसी व्यक्ति या वस्तु का नाम वह शक्ति हो जो उसे किसी निश्चित कार्य हेतु प्रेरित करती है, या कराती है। अतः नाम और उसकी विशेषताओं/चरित्र में बहुत निकट सम्बन्ध होता है। निम्न सन्दर्भ द्रष्टव्य है–

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ अथर्व. 7.12.2

हे (सभे ते नाम विद्म) सभे! तेरा नाम हम जानते हैं, (वानरिष्टा नाम असि) तू निश्चय से (नरिष्टा) न हिंसित होने वाली यह नामवाली है। प्रजा से चुनी गयी सभा को राजा अपनी मनमानी से भंग नहीं कर सकता। इसी से तू (नर इष्टा) प्रजास्थ लोगों की प्रिय है। (ये के च) जो कोई भी (सभासद: ते मे सवाचस:) तेरे सभासद हैं, वे मेरे लिए मिलकर वचन वाले/एक सम्मत वाले (सन्तु) हों। उनकी सम्मतियाँ परस्पर विरुद्ध होकर मेरी परेशानी का कारण न बने।

दो वस्तुओं के नाम में समानता होने से उनकी विशेषताओं में भी कुछ समानतायें पायी जाती हैं। कुछ देवताओं के नाम में समानता होने से उनकी विशेषताओं में भी समानता पायी जाती है-जैसे वेदों में निम्न नाम आए हैं-

यम-यमी, सूर्य-सूर्या

इनमें यमी, यम की जुड़वा बहन तथा सूर्या, सूर्य की पुत्री बतायी जाती है।

पंचविंश ब्राह्मण 14.9.27 - नाम जो भी होता है, चरित्र (विशेषता) उसी के अनुसार होता है।

अध्याय-25

छोटे वाक्य (Sentence Contraction)

वाक्यों को काट-छाँट कर छोटा कर देना। इस सम्बन्ध में बताया गया है कि क्रिया पदों से बनाए गए यदि दो क्रमागत पद समान हों तो प्राय: क्रिया-पदों की पुनरुक्ति नहीं होती है, जैसे-निम्नरूप में-

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विशत्विन्द्रंक्षत्रं तथा वा इति॥

अथर्व. 15.10.4

(अत: ब्रह्म वै बृहस्पतिम् एव) इस राजा द्वारा व्रात्य के सत्कार से उत्पन्न हुआ ज्ञान निश्चय से वेदज्ञ विद्वान् पुरोहित में ही (प्रविशतु वा क्षत्रम् इन्द्रम् इति) प्रवेश करे तथा उसी प्रकार निश्चय से बल राष्ट्र शत्रुओं के विदारक राजा में प्रवेश करे, यह निर्णय ठीक है।

तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ।

अथर्व. 15.3.4

(तस्या:) उस आसन्दी के (ग्रीष्म: च वसन्त: च द्वौ पादौ आस्ताम्) वसन्त और ग्रीष्म ऋतु दो पाँव थे तथा (शरद् च वर्षा च द्वौ) शरद् और वर्षा दूसरे दो पाये बने।

निम्न उदाहरण में ऐसे मन्त्र जिनमें सर्वनाम पद अव्याख्यात हैं-

यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः। अथर्व. 4.16.8 (मन्त्रांश)

(यः दैवः वरुणः) जो सूर्य-चन्द्र आदि देवों से होने वाला वरुण पाश है (च यः मानुषः) और जो मनुष्य द्वारा हो जाने वाला वारुण पाश (आधिदैविककष्ट दैव पाश और आधिभौतिककष्ट मानुष पाश) है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनु. 3/76

(अग्नौ सम्यक् प्रास्ता आहुतिः) अग्नि में अच्छी प्रकार डाली हुयी घृत आदि पदार्थों की आहुति (आदित्यम् उपतिष्ठते) सूर्य को प्राप्त होती है (आदित्यात् जायते वृष्टिः) सूर्य से वृष्टि होती है (वृष्टेः अन्नम्) वृष्टि से अन्न होता है (ततः प्रजाः) उससे प्रजाओं का पालन पोषण होता है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ गीता 10/20

इस प्रकार व्याकरण के विभिन्न तत्त्वों का लोप कर, पादों/मन्त्रों की रचना की गयी है, परन्तु उससे भाव या अर्थ में अन्तर नहीं होता, इस पद्धति में उक्तियों व मुहावरों का प्रयोग प्रायः किया गया है।

✦✦✦

शाङ्कर भाष्य में ब्रह्म भेद-विवेचन

–डॉ० सुरेन्द्र कुमार
एसिस्टेंट प्रोफेसर

–किरण वर्मा
शोधच्छात्रा
मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

ब्रह्म के दो रूप होते हैं– सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों एक ही हैं, परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता से दो रूपों में गृहीत किये जाते हैं। जिस प्रकार संसार के पदार्थ असत्य और काल्पनिक हैं, उसी प्रकार जीव भी अविद्या के ऊपर आश्रित रहता है। ब्रह्म को उपनिषदों में इस प्रकार परिभाषित किया गया है– "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[1] तथा "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"[2]। यही ब्रह्म सगुण-निर्गुण भेद से प्रतिपादित है।

(1) सगुण ब्रह्म – 'ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, इस ज्ञान के अभाव में ही जीव की सत्ता है। जीव ईश्वर की कल्पना उपासना के लिए करता है और उसे दया, दाक्षिण्य, अगाध करुणा आदि गुणों से मण्डित मानता है। यही सगुण ब्रह्म है।[3] चिन्तन की दूसरी दृष्टि व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों हैं व्यवहारिक दृष्टि से ब्रह्म सगुण है। और सगुण ब्रह्म ही उपाधियुक्त होने से सोपाधि तथा सविशेष कहलाता है। उपनिषदों में इसे अपर भी कहा जाता है। ब्रह्म का यह स्वरूप तटस्थ लक्षण है। व्यावहारिक दृष्टि से यह ब्रह्म पूर्ण है। सांसारिक जीव अविद्या से उसी प्रकार आच्छन्न है, जैसे संसार के सारे पदार्थ असत्य और काल्पनिक होते हुए भी सत्य की तरह प्रतिबिम्बित होते हैं। ब्रह्म की ही एकमात्र विश्व में सत्ता है, किन्तु ज्ञान के अभाव में जीव की आस्था अपनी सत्ता में स्थिर होती है। अपने संरक्षण के लिए जीव अनेक

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् – 2/1/1
2. बृहदारण्यकोपनिषद् – 3/9/28
3. बलदेव उपाध्याय (भारतीय दर्शन), पृष्ठ 352

रूपों में ईश्वर की कल्पना कर उसकी उपासना के लिए उसे महिमामण्डित करता है। उसे संसार का स्वामी तथा नियन्ता मानता है। जीवों के प्रति उसमें अगाध करुणा, परम दयालुता और अपार कृपालुता जैसे गुणों का सागर उन्हें मान कर उनकी उपासना करता है यही सगुण ब्रह्म या परमात्मा है। इस तरह सगुण की कल्पना की गई है।[1] शंकर के अनुसार सगुण ब्रह्म ईश्वर को कहा जाता है। यह सर्वगुणसम्पन्न रहता है इसकी अराधना की जाती है। मायायुक्त ब्रह्म ही ईश्वर माना जाता है पारमार्थिक दृष्टिकोण से विश्व का रचयिता ईश्वर एवं उसकी शक्ति माया सभी असत्य है जब तक व्यक्ति अज्ञान के वशीभूत रहता है तब तक उसे विश्व, ईश्वर एवं माया वास्तविक लगते हैं। ज्यों ही वह अज्ञान से मुक्त हो जाता है त्यों ही उसे सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को मिथ्या मान लेता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सगुण एवं व्यक्तित्व पूर्ण है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अंतर्यामी, स्वतंत्र एवं एक है। इसे 'सच्चिदानंद' भी कहा जाता है इसमें सत्ता, चैतन्य एवं आनन्द पाए जाते हैं। यह सद्गुणों की खान है। यह विश्व का रचयिता, पालन-पोषणकर्ता और संहारक है।[2]

(2) निर्गुण ब्रह्म - पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। उसके ऊपर जीव का या जगत् का कोई गुण आरोपित नहीं होता। शङ्कराचार्य के अनुसार परब्रह्म सजातीय विजातीय तथा स्वगत - इन तीनों भेदों से रहित होता है। परन्तु रामानुज के अनुसार ब्रह्म में स्वगत भेद होता है। ब्रह्म में दो अंश होते हैं चित् अंश तथा अचित् अंश और ये आपस में विरोधी होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म का एक अंश दूसरे अंश का विरोधी है और स्वगत भेद की सिद्धि करता है शंकर के मतानुसार ब्रह्म के दो रूप होते हैं- विश्व तथा विश्वातीत। विश्व रूप में वह गुण सम्पन्न माना जाता है परन्तु विश्वातीत रूप में वह अनिर्वचनीय है क्योंकि उसमें किसी गुण की सत्ता नहीं मानी जाती। इसलिए वह निर्गुण है।

जहाँ शांकर भाष्य में ब्रह्म की यथार्थ सत्ता का प्रश्न है; शंकर का चिन्तन अत्यन्त मौलिक, प्रत्यय, तार्किक और तात्विक प्रमाणसन्निहित है। शङ्कर की दृष्टि में ब्रह्म प्रत्येक मनुष्य के लिए सर्वत्र विद्यमान है। ब्रह्म मानव-जीवन का सार्वभौम व्यापक तत्व है। कारण-कार्यसिद्धान्त के वर्णनक्रम में शंकर ने कहा है कि कारण का स्वरूप उसके स्वभाव सामान्यतया व्यापित का प्रतिपादन है। कार्य को उन्होंने अवस्थाविशेष माना है।[3]

संसार के ये सारे सामान्य श्रेणीबद्ध क्रम में एक ही ब्रह्म के पुञ्जस्वरूप हैं।

---

1. भारतीय दर्शन, जगदीश चन्द्र मिश्र, पृष्ठ 543
2. भारतीय दर्शन, डॉ० आर०पी० शर्मा, पृष्ठ 161, 162
3. बृ.उ., - शांकर भाष्य - 2/3/9

इसी रूप में उनका स्वरूपबोध है इस संसार में अनेक सामान्य अपने विशेषों के साथ चैतन्यसहित या चैतन्यरहित निरपेक्ष ब्रह्म सदैव स्फुरित है।[1] यह सर्वव्यापी सत्ता का किसी गुण के रूप में वर्णन सम्भव नहीं है इसीलिए श्रुतियों में परब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म को नेति-नेति कहा गया है। अर्थात् 'ब्रह्म' विचार की परिधि से परे है। क्योंकि निर्गुण ब्रह्म अवर्णनीय है फिर भी शंकराचार्य ने 'नेति-नेति' का आशय स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म के विषय में हम किसी विधेय का प्रयोग नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा करने का प्रयास करेंगे तो निःसीमा और अपरिमित ब्रह्म परिमित और सीमित बन जायेगा। परमार्थ की दृष्टि से उसमें कोई गुण नहीं होता। क्योंकि वह एक अपरिमित सत्ता है उसमें न यह गुण यहाँ है और न वह गुण वहाँ है। इस तरह के गुणों के निषेध करने पर जो शेष ब्रह्म के विषय में श्रुति 'नेति-नेति' शब्दों का व्यवहार करती है, वह ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ही है। इसे ही पारमार्थिक रूप में ब्रह्म कहा जाता है। प्रतीतिरूप ब्रह्म दैविक, भौतिक और चैतन्य जगत् से भिन्न एक यथार्थ सत्ता है।[2] इस प्रकार उसमें कोई गुण नहीं रहता। यही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप है। अतः सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है। वह एक ही सत्ता है परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण वह इन दोनों नामों से पुकारा जाता है नाटयशाला के रंगमंच के ऊपर दुष्यन्त की भूमिका में उतरने वाला नट नाटयशाला के बाहर जाते समय वह कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बन जाता; रहता तो वह वही मनुष्य ही है, परन्तु नाट्य की दृष्टि से वह नट कहलाता है। वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से वह मनुष्य ही रहता है। ब्रह्म की भी ठीक यही दशा है वह संसार की सृष्टि, स्थिति तथा लय करता है। अतः संसार की अपेक्षा वह ईश्वर है परन्तु निरपेक्ष भाव से देखने पर वही ब्रह्म है। अतः सगुण ईश्वर तथा निर्गुण ब्रह्म में भेद मानना नितान्त भ्रामक है। निर्गुण ब्रह्म की वास्तविकता परमार्थिक सत्ता है, परन्तु व्यवहार के लिए, उपासना के निमित्त वही सगुण ईश्वर माना जाता है। तत्त्व एक ही है, दृष्टि भिन्न-भिन्न है अतः उसके दो रूप माने जाते हैं। एक बार में हम अन्तिम सीढ़ी पर नहीं पहुँच सकते। ज्ञान के मन्दिर में चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ हैं जिनके द्वारा ही साधक उसमें पहुँच सकता है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति अन्तिम लक्ष्य है परन्तु उसे अभ्रान्त प्राणी ही पा सकता है उसके सोपान रूप में उपासना और इसके लिए 'ईश्वर' की अति आवश्यकता है ईश्वर उपासना से सगुण ब्रह्म के भजन-पूजन से

---

1. अनेका हि विलक्षणा चेतनाचेतनरूपाः सामान्यविशेषाः।
   तेषां पारम्पर्यगत्या एकस्मिन् महासामान्येऽन्तर्भावः।।
   बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य - 2/4/9
2. शांकरभाष्य - 4/3/14

चित्त की शुद्धि होती है और तभी साधक विशुद्ध ज्ञान मार्ग का अवलम्बन कर निर्गुण ब्रह्म को पा सकता है अन्यथा नहीं। यही उपासना का उपयोग है।[1]

जीव-ईश्वर

जीव और ईश्वर दोनों ही चैतन्य रूप हैं। दोनों कारण शरीर है। जीव और ईश्वर दोनों ही ब्रह्म के प्रतिबिम्ब हैं। दोनों ही चैतन्य की उपाधि विशिष्ट से युक्त हैं। दोनों ही ब्रह्म के आभास हैं। परमार्थिक दृष्टि से दोनों में अभेद सम्बन्ध है। आचार्य शंकर का प्रमुख सिद्धान्त है कि– 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' अर्थात् जीव और ब्रह्म में लेशमात्र भी भेद नहीं है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से दोनों में भेद है। जीव ब्रह्म का आभास मात्र है जो ब्रह्म के समान स्वभाव वाला है स्वप्रकाश और विभु है। ईश्वर नित्य, शुद्ध और मुक्त है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, माया की शुद्ध सत्त्वप्रधान उपाधि से युक्त है। ईश्वर सब जीवों का रक्षक है सर्वान्तर्यामी और शुभाशुभ कर्मफल का दाता है। यह समस्त विश्व का कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता है। जीव कर्त्ता और कर्मफलभोक्ता है। जीव पाप-पुण्य अर्जित करता है और शुभाशुभ कर्म का भोक्ता है। व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में एक अन्तर है जीव उपासक है और ईश्वर उपास्य है। जिस प्रकार घट के भग्न होने पर घटाकाश में लीन हो जाता है उसी प्रकार बुद्धि रूप अथवा अन्त:करण रूप उपाधि के विनष्ट होने पर जीव भी ब्रह्म में लीन हो जाता है उस समय उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता। वही जीव इस देह में रहकर जब ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो जीवनमुक्त हो जाता है और देहपात के बाद विदेहमुक्त कहलाता है।[2] जीव परमेश्वर का ही सच्चिदानन्दमय है। किन्तु माया के वश में रहने के कारण जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वस्तुत: शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को प्रेरित करने वाला और उन्हें चेतनता प्रदान करने वाला चेतनतत्व आत्मा ही है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि– "देह में स्थित यह जीवात्मा मुझ परमेश्वर (ईश्वर) का ही सनातन अंश है जीवात्मा त्रिगुणमयी माया में स्थित हुआ इन्द्रियों तथा मन को प्रेरित करता है।"[3] उपनिषदों का भी यही निर्णय है कि यह आत्मा अजर, अमर एवं नित्य ज्ञान स्वरूप है अर्थात् नित्य ज्ञानस्वरूप यह आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता ही है। और न स्वयं कभी किसी से उत्पन्न हुआ है। अत: यह कार्य कारण से भी परे है। यह ईश्वर (आत्मा) अजन्मा है, नित्य है, सदा एक समान रहने वाला है तथा क्षय-वृद्धि से

---

1. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ 352, 353
2. औपनिषदिक अध्यात्म विज्ञान, प्रो० ईश्वर भारद्वाज, पृष्ठ 56, 57
3. ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।
   मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। गीता 15/17

रहित है। शरीर के नाश किये जाने पर भी इसे मारा नहीं जा सकता।[1] यही बात गीता में भी कही गई है कि जैसे शरीर (जीव) उत्पन्न होता है ऐसे यह शरीरी कभी भी, किसी भी समय में उत्पन्न नहीं होता। यह तो सदा से ही है। भगवान् ने इसे अपना अंग बताते हुए इसको सनातन कहा है। यह अविनाशी नित्य-तत्व पैदा होकर फिर होने वाला नहीं है अर्थात् यह स्वतः सिद्ध निर्विकार है। जैसे बच्चा पैदा होता है, तो पैदा होने के बाद उसकी सत्ता होती है। जब तक वह गर्भ में नहीं आता उसकी सत्ता नहीं होती। तात्पर्य यह है कि इसकी सत्ता पैदा होने के बाद होती है। परन्तु नित्य तत्त्व की सत्ता स्वतः सिद्ध होती है। यह शरीरी (ईश्वर) कभी जन्म नहीं लेता इसलिए वह अजन्मा है। यह नित्य-निरन्तर रहने वाला है इसमें बदलने की योग्यता है ही नहीं। यह अविनाशी तत्त्व पुराण (पुराना) अर्थात् अनादि है यह ईश्वर इतना पुराना है कि कभी पैदा ही नहीं हुआ है। शरीर (जीव) का नाश होने पर भी इस अविनाशी शरीरी (ईश्वर) का नाश नहीं होता।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी जीव का स्वरूप बड़े स्पष्ट रूप से समझाया गया है कि जैसे- यह जीव अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला और सूर्य के समान प्रकाशमय है। वह संकल्प और अहंकार से युक्त हो रहा है अतः संकल्पमय बुद्धि के गुण से तथा अहंता-ममता रूप अपने गुणों से सम्बद्ध होने के कारण यह सुई की नोंक के समान सूक्ष्म आकार वाला है। ईश्वर (परमात्मा) से भिन्न इस प्रकार का भी जीव का स्वरूप ज्ञानीजनों द्वारा देखा गया है।[3] श्वेताश्वतरोपनिषद् में आगे कहा गया है कि जीव का आकार इतना सूक्ष्म है कि बाल की नोंक के सौवें भाग के फिर सौ भाग कर दिये जाने पर जो एक भाग होता है उसी के बराबर इस जीव का स्वरूप समझना चाहिए। इतना सूक्ष्म होने पर भी वह असीम होने में समर्थ है।[4] यह जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न यह नपुंसक ही है। यह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस उससे सम्बद्ध हो जाता है।[5]

---

1. कठो. 2/18, 19
2. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। गीता 2/20
3. अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः, संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
   बुद्धेर्गुणेवात्मगुणेन चैव, आराग्रमध्यो ह्यपरोऽपिदृष्टः।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/8
4. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
   भागो जीवः स विज्ञेय स च अनन्ताय कल्पते।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/9
5. नैव स्त्री न पुमान् चैव न चैवायं नपुंसकः।
   यद्यच्छरीरमादते तेन तेन स युज्यते। । श्वेताश्वतरोपनिषद् - 5/10

कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय के तृतीय बल्ली के प्रथम मन्त्र में जीव और ईश्वर के विषय में कहा गया है कि– जीव और ईश्वर ये दोनों ही मानव शरीर में बुद्धि गुफा में छिपे हुए रहते हैं और वे धूप और छाया की भाँति सदा साथ–साथ रहते हुए भी एक दूसर से भिन्न है। जीव छाया की भाँति अल्पप्रकाश और अल्पज्ञ है, किन्तु परमात्मा अर्थात् ईश्वर धूप की भाँति पूर्ण प्रकाश और सर्वज्ञ है। जिस प्रकार छाया में अल्पप्रकाश भी उसका निजी नहीं होता धूप का ही होता है, उसी प्रकार जीव का अल्पज्ञान भी उसका अपना नहीं होता प्रत्युत विज्ञान स्वरूप उस परमेश्वर का ही रहता है।[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् में दो पक्षियों के दृष्टान्त से इस विषय को समझाया गया है। सदा साथ रहने वाले तथा परस्पर मित्रता रखने वाले जीव और ईश्वर (परमात्मा) रूप दो पक्षी एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर हृदय रूपी घोंसले में एक साथ रहते हैं। उनमें से एक तो उस वृक्ष के फलों को स्वाद ले–लेकर खाता रहता है। और दूसरा उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है अर्थात् जीव तो हर्ष, शोक का अनुभव करता हुआ कर्मफलों को भोगता है और दूसरा पक्षी रूप परमात्मा इस शरीर में प्राप्त हुए सुख–दुःख को भोगता नहीं, केवल द्रष्टा बना रहता है।[2]

गीता के पन्द्रहवें अध्याय में प्रकृति और जीवात्मा को क्षर–अक्षर नामों से वर्णित किया गया है तथा उस परमात्मा रूप ईश्वर को पुरुषोत्तम कहा गया है जैसे– भगवान् कहते हैं कि इस संसार में क्षर–अक्षर ये दो प्रकार के पुरुष हैं उनमें से सम्पूर्ण प्राणियों के भौतिक शरीर को क्षर (नाशवान्) कहा है और जीवात्मा अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है। उन दोनों में ही उत्तम पुरुष तो कोई अन्य ही है। जो तीनों लोकों में व्याप्त होकर सबका भरण–पोषण करता है क्योंकि मैं परमेश्वर (ईश्वर) नाशवान् क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित जीव से भी उत्तम हूँ। इसलिए मैं तीनों लोकों में और वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।[3]

---

1. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे।
   छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्रयो ये च त्रिणाचिकेताः।। कठोपनिषद् – 1/3/1
2. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्ननन्यो अभिचाकशीति।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/6
3. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
   क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
   उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
   यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
   यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
   अतोऽस्मिन् लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। गीता – अध्याय 15

विद्यारण्य स्वामी का कथन है कि माया में प्रतिबिम्बित होने वाला ब्रह्म माया को वशवर्ती बनाकर सर्वज्ञ ईश्वर बन जाता है और अविद्या में प्रतिबिम्बित होने वाला अविद्या के परतन्त्र होकर जीव कहलाता है।[1] जैसे- जीव का जन्म- मरण या उत्पत्ति-विनाश का क्रम अविद्याकृत है। जब तक अविद्या है तभी तक जीव का जीवत्व है। जब तक देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि रूपी उपाधियाँ हैं तभी तक जीव का जीवत्व है वेदान्त में एक ही कूटस्थ, नित्य, विशुद्ध, विज्ञानरूप परमात्मतत्व है। यह विज्ञान धातु अविद्या से अनेक रूपों में प्रतीत होता है इसके अतिरिक्त अन्य कोई तत्व है ही नहीं।[2]

कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को परमात्म तत्व अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि अंगुष्ठमात्र परिमाण वाले परम पुरुष परमात्मा धूप रहित निर्मल ज्योति के समान है। वे भूत, वर्तमान और भविष्य पर शासन करने वाले हैं। लौकिक ज्योतियों में धूम रूप दोष होता है किन्तु वे धूमरहित, उष्णतारहित एवं सर्वथा विशुद्ध है, अन्य ज्योतियाँ घटती बढ़ती रहती है और समय आने पर बुझ जाती है किन्तु वे परमात्मा जैसे आज हैं, वैसे ही कल भी रहेंगे।[3]

ईश्वर सूक्ष्म से सूक्ष्म है और महान् से महान् है अर्थात् संसार का सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ भी उनकी तुलना में स्थूल ही बना रहता है और महानता में वे इतने महान् है कि समस्त ब्रह्माण्ड में छाये हुए हैं वे जीव के अत्यन्त निकट होने पर भी बहुत दूर है अर्थात् उसे दृष्टिगोचर नहीं होते। जो सर्वव्यापी योगमाया के पर्दे में छिपा हुआ है, जो सबके हृदय रूपी गुफा में स्थित होने के कारण संसाररूप गहन वन में रहने वाला है तथा पुराण पुरुष है ऐसे उस कठिनता से देखे जाने योग्य परमात्मदेव को निरन्तर ध्यानाभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है तथा उसे पाकर हर्षशोक से मुक्त हो जाता है।[4]

उस परमेश्वर अर्थात् ईश्वर का दिव्यस्वरूप प्रत्यक्ष विषय के रूप में सामने

---

1. मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
   अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।। पञ्चदशी – 1/17
2. यावदविद्या यावद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः,
   तावज्जीवस्य जीवत्वम्। अविद्याकल्पितं जीवभेदनम् दर्शयति।
   वस्तुतः जीवः कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा।। शाङ्करभाष्य – 1/3/19
3. अङ्गुष्ठमात्रपुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
   ईशानो भूतस्य भव्यस्य स एवाध स उ श्वः।। एतद्वै तद्।। कठ० 2/1/12
4. न संदृशे तिष्ठति रूपमयं, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
   हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।। कठ० 2/3/9, श्वे० 4/20

नहीं ठहरता और उस दिव्यरूप को कोई भी जीव अपने प्राकृत चर्मचक्षुओं द्वारा नहीं देख पाता। मन में बार-बार चिन्तन करके ध्यान में लाया हुआ वह परमात्मा निर्मल हृदय तथा विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ही दृष्टिगोचर होता है जो साधक इस परमेश्वर को जान लेते हैं वे परमानन्द स्वरूप बन जाते हैं।

अतः जिस प्रकार आकाश स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है इन प्रतिबिम्बों में पार्थक्य है उसी प्रकार जीव और ईश्वर में अन्तर है।

पर-अपर

पर-ब्रह्म - अध्यात्म तत्व का विवेचन करते समय हमें आत्म तत्व के पर और अपर रूपों का ज्ञान होता है। अधिकतर शास्त्रों में दर्शनों में इनको ब्रह्म के विभिन्न रूपों में माना है वेदान्त दर्शन ब्रह्म के पर और अपर रूपों को भी स्वीकार करता है। आचार्य शंकर ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की व्याख्या बड़े सुन्दर ढ़ंग से करते हैं। गीता में भी ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनो ही रूपों की चर्चा करते हुए बताया है कि सगुण और निर्गुण एक ही अभिन्न तत्त्व है।[1] गीता में भगवान् के इन दोनों प्रकार के भागों की सत्ता बताई गई है गीता कहती है कि ब्रह्म निर्गुण है किन्तु सभी गुणों का भोक्ता है सत्व आदि गुणों के परिणाम रूप तथा शब्द, स्पर्श आदि विषयों का उपभोक्ता है वह सत् भी है असत् भी है और इन दोनों के परे भी है।[2] गीता कहती है कि परब्रह्म न तो सत् है और न उसे असत् ही कहा जा सकता है।[3] परब्रह्म सभी भृतों के भीतर तथा बाहर दोनों है वह अचर, चर तथा दूरस्थ एवं अन्तिकष्ट है।[4] इस प्रकार के वर्णन में विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए भगवान इस जगत का उत्पत्ति और लय स्थान दोनों है।[5] वह सभी प्राणियों में निवास करता है जिस प्रकार धागे में मोतियों का समूह पिरोया जाता है। उसी प्रकार भगवान् समस्त जगत् में ओत-प्रोत है।[6] उसके सभी अंग हाथ, पैर, सिर, आँख, मुँह चारों ओर हैं वह पूरे विश्व को आवृत किये हुए हैं।[7] परन्तु भगवान् केवल जगत् में निहित ही नहीं है बल्कि इसका अतिक्रमण करने वाला भी है वह अवयव रूप

---

1. गीता 13/14
2. सदसत् तत् परं यत् - श्रीमद्भगवद्गीता 11/37
3. न सत्तन्नासदुच्यते, श्रीमद्भगवद्गीता 13/12
4. श्रीमद्भगवद्गीता - 13/15
5. गीता - 7/6
6. श्रीमद्भगवद्गीता - 7/7
7. श्रीमद्भगवद्गीता - 13/13

है। अनुत्तम है यही उसका वास्तविक रूप है। यही उसका परभाव है पररूप है।[1] गीता की यह परिकल्पना वेदों के पुरुष सूक्त के अनुरूप है। ऋग्वेद कहता है कि यह जगत् पुरुष का केवल पाद मात्र है, उसके अन्य तीन पाद आकाश में स्थित है।[2] भगवान् विश्व के घट-घट में व्याप्त है कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें उसका अंश न हो फिर भी विभूतिमान्, शोभायुक्त तथा उर्जित पदार्थों में भगवान् की शक्ति का प्राकाट्य कम और अधिक दीखता ही है।[3] भगवान् का इस जगत् के बाहर जो स्वरूप है जिसमें वह निर्गुण, निरवयव व्यापक सिद्ध होता है वही उसका पर रूप है उसे ही परब्रह्म कहा जाता है।

अपर ब्रह्म - ब्रह्म समस्त इन्द्रियों से हीन है और सब प्रकार के देह आदि सम्बन्ध से रहित है, वह निर्गुण है परन्तु सबको धारण करता है लेकिन फिर गुणों का भोक्ता भी है। गुणों के परिणाम रूप शब्द, स्पर्श आदि विषयों का भोक्ता ही ईश्वर एक ही अंश के योगमाया से युक्त रहता है तथा उसी अंश से जगत् में अभिव्यक्त होता है यही ब्रह्म के दो भाव हैं इसी कारण वह एक अंश से जगत् को व्याप्त कर स्थित होता है।[4] ब्रह्म का यह विश्वगत रूप ही और गुणों का भोक्ता होने के कारण इसी को अपर ब्रह्म कहा जाता है इसी को भगवान् ने गीता में अपने विराट् रूप में वर्णित किया है वह जगत् के बाहर होता हुआ भी इस जगत् में रमन करता हुआ अनुभूत होता है इसीलिए ब्रह्म का जो जगत् रूप है वही अपर रूप है किन्तु यह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है यह रूप उसका केवल व्यवहार काल में होता है वैसे तो वास्तव में उसका परब्रह्म ही वास्तविक स्वरूप है।

क्षर-अक्षर

जो तत्त्व कभी क्षरण को प्राप्त नहीं होता, कभी विनष्ट नहीं होता उसे अक्षर कहते हैं।[5] इसके विपरीत जो तत्त्व क्षरण को तो प्राप्त हो, विनाश शील हो वह क्षर कहलाता है।[6] वैदिक मान्यतानुसार तीन तत्त्व अक्षर हैं- ईश्वर, जीव व प्रकृति। उपनिषदों व गीता में मुख्य रूप से 'अक्षर' शब्द ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त किया गया

---

1. परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् - गीता 7/24
2. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। ऋग्वेद 10/90/3
3. यद्यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
   तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। गीता 10/41
4. विष्ठभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। गीता 10/14
5. यः सर्वमश्नुते न विनश्यति तदक्षरम्। सत्यार्थ प्रकाश।
6. यः क्षरति विनश्यति तत् क्षरम्। सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास

है परन्तु कहीं-कहीं जीव व प्रकृति के लिये भी प्रयुक्त दिखायी देता है। कठोपनिषद् में कहा है- यह ओ३म् ही अक्षर ब्रह्म है। यही अक्षर सबसे श्रेष्ठ है। इसे जानकर उपासक जो कुछ चाहता है उसको वह प्राप्त हो जाता है। प्रश्नोपनिषद् में अक्षर स्वरूप परमात्मा को जीवात्मा में संप्रतिष्ठित तथा अक्षरस्वरूप परमात्मा को जानने योग्य कहा है। कठ, प्रश्न, मुण्डक, बृहदारण्यक में ब्रह्म को अक्षर रूप से विवेचित किया गया है, जो इस प्रकार है-

1. **एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।**
   एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।[1]
2. **यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।**[2]
3. **स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।**[3]
4. **तदक्षरं वेदयते यस्तु।**[4]
5. **येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्।**[5]
6. **तथाक्षराद् विविधाः सोम्यभावाः।।**[6]

बृहदारण्यकोपनिषद् में अक्षर ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि-कभी न क्षीण होने वाले तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है। न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है। वह समस्त इन्द्रियों व इन्द्रियों के विषयों से परे है।[7] परन्तु पुनरपि वह इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सञ्चालनकर्त्ता है। उसने ही सूर्य और चन्द्रमा को धारण करके स्थिर किया हुआ है। उसने ही द्युलोक और पृथिवी लोक को विशेष-रूप से धारण किया हुआ है। निमेष, मुहूर्त्त, दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर उसके ही प्रशासन से चल रहे हैं। इस अक्षर के शासन से ही नदियाँ,

---

1. कठोपनिषद् 2/16
2. कठोपनिषद् 3/2
3. प्रश्नोपनिषद् - 4/11
4. प्रश्नोपनिषद् - 4/11
5. मुण्डकोपनिषद् - 1/2/13
6. मुण्डकोपनिषद् - 2/1/1
7. स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमत-मोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कञ्चन।। बृहदारण्यकोपनिषद् 3/8/8

पर्वतों से बहती है।[1] वह अक्षर दृष्टि का विषय नहीं है अपितु वह स्वयं द्रष्टा है। इसी प्रकार वह श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है मनन का विषय नहीं किन्तु मन्ता है। स्वयं अविज्ञान रहकर, दूसरों का विज्ञाता है। यह अक्षर ब्रह्म ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, विज्ञातव्य है। इससे भिन्न और किसी की उपासना नहीं करनी चाहिए।[2] इस अक्षर ब्रह्म को जानने से कर्मों का अन्त हो जाता है।[3] जो अक्षर ब्रह्म को जानकर कर्म करता है उसे कर्मों का फल नहीं मिलता। जिससे वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

भगवद्गीता में भी ब्रह्म को कूटस्थ - नित्य रहने वाला, नित्यत्व अक्षर कहा है। तथा जो व्यक्त नाशवान् प्रकृति है उसे क्षर कहा है।[4] अव्यक्त प्रकृति को अक्षर कहते हैं और प्रकृति से व्यक्त होने वाले पदार्थों को क्षर कहते हैं। क्योंकि ये नाशवान् होते हैं। प्रकृति के व्यक्त स्वरूप का नाश हो जाता है। वेद को जानने वाले उस अविनाशी तत्त्व को अक्षर कहते हैं। वीतराग यति जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह अक्षर तत्त्व ओंकार ही है।[5] भगवद्गीता में एक स्थान पर तो ब्रह्म को प्रकृति नाम से कहा गया है। यहाँ ब्रह्म का अर्थ प्रकृति है।[6] अन्यत्र भी 'मम योनिर्महत् ब्रह्म'[7] में ब्रह्म का अर्थ प्रकृति किया है। तात्पर्य है कि कर्म प्रकृति से उत्पन्न है व प्रकृति अक्षर के तप से उत्पन्न हुई है। यहाँ भी अक्षर को ब्रह्म रूप में स्थापित किया गया है और कहा है कि- कभी-कभी नष्ट न होने वाला वह तत्त्व अक्षर ब्रह्म ही है[8] तथा नाशवान् पदार्थों की स्थिति को

---

1. एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा .... निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा माया ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य ....। बृहदारण्यकोपनिषद् 3/8/9
2. तद् वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्ट द्रष्ट्रश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नाल्यदतोऽस्ति द्रष्टृनान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रे। बृहदारण्यकोपनिषद् 3/8/11
3. अन्तवदेवास्य तद् भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति। बृहदारण्यकोपनिषद् 3/8/10
4. क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। गीता 15/16
5. यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
   यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्यते।। गीता 8/11
6. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। गीता 3/15
7. गीता 14/3
5. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।। गीता 8/3

'क्षर' कहा गया है।[1] इस प्रकार भगवद्गीता में अविनाशी तत्त्व को 'अक्षर' नाम से सम्बोधित किया गया है व व्यक्त प्रकृति को क्षर नाम से उल्लेखित किया है।

मुण्डकोपनिषद् में जीवात्मा को 'अक्षर' कहा गया है। यथा- जो दिव्य, पूर्ण पुरुष, आकार रहित, समस्त जगत् के बाहर भीतर व्याप्त जन्मादि विकारों से रहित, सर्वथा विशुद्ध हैं वे उस 'अक्षर' (अविनाशी) जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ हैं।[2]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में क्षर को जड़ व अक्षर को अविनाशी जीवात्मा कहा है। प्रकृति के अक्षर व क्षर तत्त्व तथा अक्षर जीव-समुदाय से निर्मित इस प्रकृति का धारण और पोषण परमेश्वर ही कर रहा है।[3] और भी कहा है कि प्रकृति तो क्षर अर्थात् विनाशशील है और इसको भोगने वाला जीवसमुदाय अविनाशी अक्षरतत्व है। इस क्षर और अक्षर दोनों तत्त्वों पर एक परमदेव परमेश्वर शासन करते हैं।[4]

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म, जीव दोनों ही अक्षर तत्त्व है।[5] परन्तु मुख्य रूप से अक्षर शब्द ब्रह्म अर्थ में ही रूढ है। प्रकृति के अक्षर व क्षर दोनों रूप हैं। मूल रूप में प्रकृति अक्षर है परन्तु विकृत होने पर वह क्षर कहलाती है।

✦✦✦

---

1. अधिभूतं क्षरो भावः। गीता 8/4
2. दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
   अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।। मुण्डकोपनिषद् 2/1/2
3. संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।। मुण्डकोपनिषद् 1/8
4. क्षरः प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/10
5. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/9

मन के विकार क्रोध का यौगिक प्रबन्धन

डॉ. ऊधम सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर

मानवचेतना एवं योग विज्ञान विभाग

मनुष्य परमात्मा की अनुपम एवं दिव्य कृति है। मनुष्य का शरीर एवं मन कई रहस्यों को अपने भीतर समेटे हुए है। भाव भी उन रहस्यों में एक है। मनुष्य बुद्धि के साथ-साथ भाव प्रधान भी है। मनुष्य प्रत्येक समय किसी न किसी भाव में स्थित रहता है। कभी वह प्रेम में होता है तो प्रेम प्रकट करता है। कभी ईर्ष्या में होता है तो दूसरे मनुष्य उसे अच्छे नहीं लगते हैं। द्वेष, हिंसा आदि भाव भी इसी प्रकार कार्य करते हैं। मनुष्य के कई प्रकार के भावों में क्रोध भी एक प्रमुख भाव है। प्रस्तुत आलेख में क्रोध का परिणाम एवं उसके प्रबन्धन के लिए यौगिक उपायों की चर्चा की गई है।

क्रोध एक सर्वपरिचित भाव है जिसे प्रत्येक व्यक्ति प्रायः अनुभव करता है। क्रोध को कोप, रोष, अमर्ष, प्रतिज्ञ एवं मन्यु आदि कहा जाता है। क्रोध शब्द क्रुध् धातु से बना है। जिसका भाव अर्थ मनुष्य के क्रोधित, कुपित होने की अवस्था से लगाया जाता है। वेदों में क्रोध के लिए मन्यु शब्द का प्रयोग किया गया है ऋग्वेद में कहा गया है- हे भगवान्, हम तेरी आज्ञाओं का उल्लंघन करते हैं। तू हमें दण्डित न कर। अप्रसन्न होकर हम पर क्रोध न कर।[1] यजुर्वेद के मंत्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि- हे ईश्वर तू तेज है, मुझे तेज दे। तू वीर्य (शक्ति) है, मुझे वीर्यवान् बनाओ। तू बल है, मुझे बल दे। आप ओज है मुझे ओज प्रदान कीजिए। आप क्रोध स्वरूप हो, मुझे क्रोध दीजिए। हे ईश्वर आप साहस हो, मुझे साहस प्रदान करो।[2]

क्रोध की उत्पत्ति-

मस्तिष्क में भावों के लिए लिम्बिक सिस्टम उत्तरदायी होता है। यह तंत्र मनुष्य के भावात्मक प्रतिक्रिया को नियंत्रित करता है। सेरेब्रल कोर्टेक्स (मस्तिष्क के

---

1. म नो वधाय हत्नवे, जिहीळानस्य रीरधः। मा हृणानस्य मन्यवे।। ऋग्वेद 1/25/2
2. तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजोमयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि। यजुर्वेद 19/9

अन्दर का ऊपरी भाग) जब परिस्थितियों का विश्लेषण नहीं कर पाता है एवं उन्हें समझ नहीं पाता है। ऐसी अवस्था में सुधारने के उपाय नहीं खोज पाता है तब लिम्बिक सिस्टम (जिसे भावात्मक मस्तिष्क कहा जाता है।) उत्तेजित हो जाता है। जो कि क्रोध के रूप में बाहर दिखायी देता है।

मनुष्य के क्रोधित होने के कई कारण हो सकते हैं, उनमें दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम आंतरिक एवं द्वितीय बाह्य कारण। आंतरिक कारणों में व्यक्तिगत समस्याओं, शरीरगत चोटों अथवा बीमारियों, मानसिक रूप से उत्तेजित करने वाली घटनाओं, परिस्थितियों के सामने आ जाने से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। वहीं बाह्य कारण में बाह्य परिस्थितियां, वातावरण-सर्दी, गर्मी एवं वर्षा की अधिकता, गंदगी, अव्यवस्था के कारण व्यक्ति को क्रोध आ जाता है।

क्रोध की परिभाषा

ओक्सफोर्ड डिक्शनरी क्रोध को चरम नाराजगी के रूप में परिभाषित करता है।

क्रोध के लक्षण-

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत शम्पाक गीता में क्रोध के लक्षणों का वर्णन किया है। क्रोध के लक्षणों के विषय में कहा गया है कि, जो धनवान् है, वह क्रोध और लोभ के आवेश में आकर अपनी विचार शक्ति को खो बैठता है, टेड़ी आंखो से देखता है, उसका मुंह सूखा रहता है, भोंहें चढ़ी होती हैं और वह पाप में ही मग्न रहा करता है।[1] क्रोध के कारण वह ओठ चबाता रहता है और अत्यन्त कठोर वचन बोलता है। ऐसा मनुष्य सारी पृथ्वी का राज्य भी दे देना चाहता हो तो भी उसकी ओर कौन देखना चाहेगा।[2]

क्रोध के कारण-

क्रोध के कई कारण हैं जिनमें प्रमुख निम्न हैं-

1. **शारीरिक अस्वास्थ्य**-शरीर का अस्वस्थ रहना लम्बी बीमारी से पीड़ित रहना

---

1. धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः। तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः।। महाभारत, शान्तिपर्व, शम्पाक गीता 1.14
   निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारूणभाषिता। सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः।। महाभारत, शान्तिपर्व, शम्पाक गीता 15
2. निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारूणभाषिता। सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः।। महाभारत, शान्तिपर्व, शम्पाक गीता 15

भी क्रोध का एक प्रमुख कारण है। दीर्घ और असाध्य रोग मनुष्य को क्रोधी के साथ-साथ चिड़चिड़ा भी बना देता है।

2. **उचित खान-पान का न होना**-उचित खान-पान न होने एवं इसके अभाव की वजह से भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है। मिर्च, मसाले, कच्ची-जली रोटी, न्यूनाधिक नमक, तेल व घी का बहुतायत में प्रयोग करना भी क्रोध का जनक है। वहीं मांस, अंडा, चाय-कॉफी, सुरा, तम्बाकू, लालमिर्च, खटाई, लहसुन, प्याज, बैंगन आदि गरम पदार्थों से क्रोध उत्पन्न होता है। जितनी भी वस्तुऐं गर्म प्रकृति की होती हैं उनसे क्रोध उत्पन्न होता है। अपौष्टिक आहार एवं असंतुलित आहार ग्रहण करने से भी क्रोध उत्पन्न होता है।
3. **सुख में बाधा**- मनुष्य सुख की चाह में सांसारिक कार्यो में निरत रहता है। सुख में बाधा उत्पन्न होने से व्यक्ति के अन्दर क्रोध उत्पन्न होता है।
4. **निद्रा में बाधा**-अधूरी नींद भी क्रोध का एक प्रमुख कारण है। गाढ़ी नींद हमारी थकावट, चिन्ताओं को दूर करती है। तथा स्वास्थ्य प्रदान करती है। जब हम पर्याप्त मात्रा में नींद नहीं ले पाते हैं तो स्वभाव क्रोधी एवं चिड़चिड़ा होने लगता है।
5. **इच्छा पूर्ति न होना**-इच्छा मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य इच्छाओं के आधीन होकर जीवन जीता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इच्छाओं का होना जरूरी है। कोई व्यक्ति धनी बनना चाहता है, तो कोई बलबान्। कोई योगी बनना चाहता है, तो कुछ भोग में रमना चाहता है। कोई अधिकारी बनने की सोचता है तो कुछ लोग परोपकार में जीवन खोजने की कोशिश करते हैं। इच्छाऐं हर समय नित, नूतन, नवीन बनी रहती हैं। परन्तु काल के विधान में ऐसा कुछ है कि सभी व्यक्तियों की सभी इच्छाऐं पूर्ण नहीं होती हैं। अपूर्ण इच्छा ही निराशा की जननी है और निराशा से खीज, क्रोध उत्पन्न होता है।
6. **अपमान**-अपमान भी क्रोध का एक प्रधान कारण है। सामान्य मनुष्य सम्मान की कामना भले न करे पर अपमान से यथासम्भव दूर रहना चाहता है। मनुष्य अपमान के कड़वे घूंट पीकर जिन्दा नहीं रह पाता है। लोग अपमान के डर से आत्महत्या तक करते देखे जाते हैं।
7. **पारिवारिक असमायोजन**-पति-पत्नी में सहयोग के अभाव के कारण भी क्रोध उत्पन्न होता है। गृह क्लेश का यह मूल है। घर परिवार का वातावरण प्रतिकूल होने पर भी क्रोध जन्म लेने लगता है।

क्रोध के परिणाम-

प्रसिद्ध ग्रन्थ मनुस्मृति में क्रोध के द्वारा उत्पन्न आठ प्रकार के दोषों का वर्णन किया है। जिनमें चुगलखोरी, हिंसा, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, धन-नाश, वाणी तथा दण्ड की कठोरता।[1] महर्षि वाल्मीकि ने क्रोध से ग्रसित व्यक्ति के विषय में कहा है कि-क्रोधी मनुष्य कौन सा पाप नहीं करता? क्रोध से ग्रसित व्यक्ति अपने गुरुजनों की भी हत्या कर देता है। कुपित मनुष्य अपनी कटु वाणी से सज्जनों का भी तिरस्कार कर देता है।[2]

क्रोध के कारण व्यक्ति के अन्दर शारीरिक, मानसिक एवं व्यवहार में बदलाव आने लगता है। व्यक्ति में क्रोध के कारण हृदय की धड़कन तीव्र हो जाती है तथा रक्तचाप बढ़ जाता है। क्रोध की अधिकता के कारण कभी-कभी मस्तिष्क की रक्त-वाहिनी फट जाती है, जिससे ब्रेन हेमरेज हो सकता है। क्रोध की अवस्था में रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ जाती है। रक्त का जमाव तेजी से होने लगता है। लाल रक्त कणिकाओं की संख्या में बृद्धि हो जाती है। पेशियां में तनावग्रस्त हो जाती हैं तथा फड़कने लगती हैं। रोंगटे खड़े हो जाते हैं एवं पसीना अधिक आने लगता है।

क्रोध का पाचन तन्त्र पर दुष्प्रभाव-

क्रोध आदि संवेगों के परिणामों पर विद्वानों ने बहुत अधिक शोध अनुसंधान एवं परीक्षण किये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इन संवेगों का पाचन तन्त्र पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। क्रोध की अवस्था में आमाशय अपना कार्य बहुत धीमा अथवा बन्द कर देता है। आमाशय में गेस्ट्रिक ज्यूस नहीं बनते जिससे भोजन का पाचन बहुत धीरे-धीरे होने लगता है। क्रोध के समय पेन्क्रियाज से निकलने वाले पैन्क्रियाटिक ज्यूस का स्राव भी कम होने लगता है। साथ ही बाइल एवं लीवर की कार्यप्रणाली भी मंद हो जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि क्रोधावस्था के कारण भोजन का पाचन भलीभांति नहीं हो पाता है। अगर इस अवस्था में भोजन ग्रहण भी कर लिया जाए तब भी वह शरीर में ऐसा ही पड़ा रहेगा बिना पाचन के। हजम न हो पाने के कारण वह शरीर के किसी काम का नहीं रह जाता है।

डायबिटीज का प्रमुख कारण-

सामान्य रूप से रक्त में शर्करा की मात्रा 0.06 से 0.1 प्रतिशत रहती है तथा किडनी द्वारा इसके निकास को रोकने में समर्थ होती है। परन्तु यदि यह मात्रा बढ़कर

1. पैशुन्यं साहसं द्रोह इर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारूष्यम् क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः।। मनुस्मृति 7/48
2. क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः, क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि। क्रुद्ध परूषया वाचा नरः साधून् अधिक्षिपेत्।। श्री वाल्मीक रामायण, सुन्दर काण्ड 55/5

0.18 प्रतिशत तक जा पहुंचे तब वह मूत्र के साथ निकलने लगती है। क्रोध के कारण डायबिटीज होने का खतरा सबसे अधिक है। शोधों से प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर कह सकते हैं कि जब व्यक्ति क्रोधित एवं कुपित होता है, तब उसके रक्त व मूत्र में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है।

क्रोध का मन पर प्रभाव–मन का कार्य सोच, विचार एवं चिंतन, स्मरण करना होता है। मन एक पल भी स्थिर हुए बिना उपरोक्त कार्यों में लीन रहता है। मन पर क्रोध का अधिकार होते ही मन के क्रियाकलाप ध्वस्त होने लगते हैं। प्रायः सोच–विचार, निर्णय लेने की शक्ति का लोप हो जाता है। क्रोध की अवस्था में व्यक्ति यह सोच ही नहीं पाता कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। क्रोध के आवेश में मनुष्य की स्मरण–शक्ति धूमिल हो जाती है और उसे कुछ भी याद नहीं रह पाता है।

क्रोध के दुष्प्रभाव के परिणाम को व्यक्त करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। श्रीमद्भगवद्गीता 2/63

अर्थात् क्रोध के कारण मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है। और बुद्धि के नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।

क्रोधी मनुष्य के सभी कार्य होते हैं असफल–

जो मनुष्य क्रोधी एवं चिड़चिड़े स्वभाव के होते हैं, उनके व्यावहारिक सम्बन्ध प्रायः खराब ही होते हैं। अगर होते भी हैं तो ज्यादा देर तक टिके नहीं रहते हैं। मनुष्य का व्यवहार एवं स्वभाव सफलता प्राप्ति में सहायक होते हैं। क्रोधी स्वभाव के कारण किसी भी कार्य में सफलता मिलना संदिग्ध हो जाती है। हंसगीता में कहा गया है कि क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है अथवा जो हवन करता है, उसके उन सब कर्मों के फल को यमराज हर लेते हैं। क्रोध करने वाले का सारा परिश्रम बेकार चला जाता है।[1]

क्रोध है आन्तरिक शत्रु–

मनुष्य सोचता है कि बाहरी दुनिया में उसके अनेकों दुश्मन हैं जो उसके प्रति दुर्भाव, ईर्ष्या एवं द्वेष से भरे हुए हैं। जो हर समय नीचा दिखाने की ताक में रहते

1. यत् क्रोधनो यजति यद् ददाति यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति। वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं मोघःश्रमो भवति हि क्रोधनस्य।। 27 हंसगीता

हैं। कुछ हद तक यह बात सही भी है कि बाहरी दुनिया में आपके शत्रु होते हैं जिनसे प्रतिपल सावधान रहने की आवश्यकता होती है। लेकिन हम अपने स्वयं के आन्तरिक शत्रुओं से अनभिज्ञ बने रहते हैं। जो हमारी शक्तियों, क्षमताओं और सम्भावनाओं को पल-पल क्षीण एवं नष्ट करते रहते हैं। उनमें एक प्रबल शत्रु क्रोध है, जिससे हमें प्रतिदिन रूबरू होना पड़ता है। व्यक्ति को अपना मूल्यांकन कर देखना चाहिए कि उसके आन्तरिक शत्रु उस पर हावी तो नहीं हैं। क्रोध हमें कहीं खोखला तो नहीं बना रहा है। आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त किये बिना हम इस संसार में रहने लायक कुछ भी हस्तगत नहीं कर सकते हैं। आंतरिक शत्रुओं की प्रबलता को न्यून एवं क्षीण करने का एकमात्र उपाय योग ही है जो मानव के भावों को दिशा देता एवं उन्हे उच्चस्तरीय ऊर्जा को धारण करने योग्य बनाता है।

क्रोध का यौगिक प्रबन्धन-

क्रोध के प्रबन्धन के अनेकों उपाय विद्वानों ने सुझाये हैं। परन्तु क्रोध को नियंत्रण करने एवं इससे होने वाले दुष्परिणामों को दूर करने का कोई स्थायी उपाय अब तक नही खोजा जा सका है। जो उपाय हैं वो क्षणिक हैं और प्रभावी नहीं हैं। योग की तकनीकों के अभ्यास से हम क्रोध का प्रबन्धन बेहतर ढंग से कर सकते हैं। योग की तकनीकों के प्रयोग से तात्कालिक सहायता प्राप्त होती है वहीं लम्बे समय तक यौगिक तकनीकों का अभ्यास किया जाए तो मन शांत होता जाता है और अतिशीघ्र क्रोध होने की सम्भावना न्यून हो जाती है। योग के अभ्यासी व्यक्ति के शरीर और मन में सहनशक्ति का विकास होने लगता है। और क्रोध के साथ-साथ किसी भी प्रकार के भाव प्रभावित नहीं कर पाते हैं।

क्रोध के प्रभावी प्रबन्धन के लिए योग की तकनीकों का समग्रता के साथ अभ्यास करना आवश्यक है। यौगिक तकनीकों में यौगिक जीवनशैली, यौगिक दृष्टिकोण एवं यौगिक तकनीकें सम्मिलित हैं।

क्रोध करना जब होता है आवश्यक-क्रोध सदा ही बुरा नही होता क्योंकि अनेक अवसरों पर कुछ मात्रा में क्रोध अनिवार्य हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है किसामाजिक जीवन में क्रोध की आवश्यकता बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों के द्वारा पहुंचाए जाने वाले बहुत से कष्टों की चिरनिवृत्ति का उपाय ही न कर सकेगा।[1] विशेष परिस्थितियों में क्रोध की आवश्यकता होती है। कोई भी मनुष्य आपको कमजोर न समझे इसलिए क्रोध का प्रदर्शन विशेष

1. सुधाकर पाण्डेय (2001) *आचार्य शुक्लः प्रतिनिधि निबन्ध*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. 23

परिस्थितियों में सहायक होता है। देश के विख्यात नीतिज्ञ आचार्य चाणक्य ने लिखा है कि कोमल स्वभाव (क्रोध शून्य) स्वामी का उसके सेवक भी निरादर कर देते हैं। उग्र दण्डदाता के सब वैरी बन जाते हैं। इसलिए मनुष्य को यथोचित दण्डदाता बनना चाहिए।[1] अर्थात् उचित समय पर अपने क्रोध को प्रदर्शित करना चाहिए।

क्रोध को सहन करने लेने में ही समझदारी है-

क्रोध हमारे स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। महाराज विदुर इसे पान करने एवं शांति धारण करने की सलाह देते हैं-महाराज जो बिना रोग के उत्पन्न, कड़वा, सिर में दर्द पैदा करने वाला, पाप से सम्बद्ध, कठोर, तीखा और गरम है, जो सज्जनों द्वारा पान करने योग्य है और जिसे दुर्जन नहीं पी सकते उस क्रोध को आप पी जाइये और शान्त हो जाइये।[2]

प्रतिपक्ष की भावना का अभ्यास-

महर्षि पतंजलि ने विचारों एवं भावनाओं को नकारात्मक दिशा से सकारात्मक दिशा में ले जाने का एक बहुत ही उत्तम उपाय बताया है, वह है प्रतिपक्ष भावना। प्रतिपक्ष भावना के विषय में उनका कथन है- वितर्कों द्वारा यम और नियमों के पालन में विघ्न होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिए।[3]

पतंजलि भावों, संवेगों के गहरे जानकार हैं वे कहते हैं कि यदि तुम बहुत असंतोष अनुभव कर रहे हो तो संतोष पर मन लगाना चाहिए, इससे भावों में संतुलन स्थापित हो जाएगा। मन में क्रोध की स्थिति होने पर करुणा, प्रेम का मनन करना चाहिए इससे तुरंत ही नकारात्मक ऊर्जा सकारात्मक ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। भावनाओं की ऊर्जा के रूप में रूपान्तरण की एक विधि है प्रतिपक्ष की भावना। जिसके अभ्यास से हम क्रोध जैसे सभी नकारात्मक भावों का प्रबन्धन कर सकते है।

क्षमा भाव को विकसित होने दीजिए-

जितने भी महापुरुष हुए हैं जिन्हें हम सभी अपना आदर्श मानते हैं उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण करते हैं, ऐसे महापुरुषों के जीवन में भी अनेकों ऐसे क्षण आये जब उन्हे क्रोध जैसी स्थिति का सामना करना पड़ा लेकिन उन सभी

1. आश्रितैरप्यवमन्यते मृदुस्वभावः। तीक्ष्णदंडः सर्वैरुद्वेजनीयो भवति। यथार्ह दण्डकारी स्यात्।। चाणक्य राजसूत्र 141-143
2. अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम्। सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य।। 4/68 विदुर गीता
3. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। साधनपाद, 33

महापुरुषों ने क्रोध के बदले क्षमा के भाव को स्थान दिया। महात्मा बुद्ध पर किसी ने थूक दिया था उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। वहीं महावीर को चोट पहुंचाने वाले चण्डवीर को वह क्षमादान दे देते हैं। स्वामी दयानंद जहर देने वाले को क्षमा कर देते हैं। मनुस्मृति में धर्म के दश लक्षणों में क्षमा को दूसरे स्थान पर रखा गया है।[1] वहीं नीतिज्ञ विदुर अपने उपदेश में कहते हैं कि दूसरों के कड़वे वचनों को सुनकर भी उन्हे दुवर्चन न कहे। क्षमा करने वाले का अर्थात् सहनशील व्यक्ति का रोका हुआ क्रोध ही कटुभाषी को जला देता है।[2] महाभारत में कहा गया है कि क्रोध, लोभ से तथा पराये दोषों से बढ़ता है। हे राजन्, वह क्षमा से रुक जाता है तथा सर्वथा शान्त भी हो जाता है।[3] अतः क्रोध के स्थान पर क्षमा का भाव लाने से हमारा ही कल्याण होता है। क्षमा करने से हमें कड़ुवे अनुभवों को भूलने में मदद मिलती है। खुश रहने के लिए क्षमा का भाव विकसित होना अनिवार्य है।

यौगिक जीवन-शैली-

क्रोध से ग्रस्त मनुष्य को अपनी वर्तमान जीवनशैली में आमूलचूल परिवर्तन करना आवश्यक है। क्रोध से अत्याधिक पीड़ित व्यक्ति की जीवनचर्या अस्त-व्यस्त होती है। उसका सोना और उठना समय पर नहीं होता है। अत्यधिक देर रात तक जागना और सुबह देर से सोकर उठना मनुष्य की मानसिकता में भारी परिवर्तन लेकर आता है। कोशिश करनी चाहिए कि सोना और उठना ये दोनों कार्य सही एवं नियत समय पर हो जाना चाहिए। इससे मन में उत्साह और शरीर में स्फूर्ति का संचार होता रहता है। प्रातःकाल जागने से पूरा दिन तरोताजगी महसूस होती है। हमारी दैनिक दिनचर्या में वो सभी आदतों को शामिल कर लेना चाहिए जिनसे कि हमारे मन में उत्साह, उमंग और प्रसन्नता अनुभव हो। हमारी वेशभूषा भी मन पर गहरा प्रभाव डालती है। भड़कीले, चमकदार कपड़े मन को उत्तेजित करते हैं। अतः इस प्रकार के वस्त्रों से बचना चाहिए। स्वच्छ, श्वेत वस्त्रों को पहनने से मन शांत और शीतलता अनुभव करता है। कहने का तात्पर्य है कि *हमारी रोजमर्रा की जीवनचर्या में क्रोध को भड़काने वाले कारकों को न्यूनता तक पहुंचा देना चाहिए जिससे क्रोध उत्पन्न होने की स्थिति पैदा ही न हो। यौगिक जीवन शैली में अहार-विहार का विशेष स्थान है।*

---

1. मनुस्मृति 6/92
2. आक्रुष्यमानो नाक्रोषेन्मन्युरेव तितिक्षतः। आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति।। 4/5 विदुर निति
3. लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते। क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते।। महाभारत, शान्तिपर्व 163

क्रोध से दूर रखती है तपस्वी जीवन-शैली-

मनुष्य अपने पास उपलब्ध सुख-सुविधाओं से युक्त जीवन जीता है। इनका आदी भी हो जाता है। जब इन कथित सुख-सुविधाओं का अभाव हो जाता है तो मन असहज हो उठता है एवं क्रोध स्वभाविक रूप से आ जाता है। समय पर धुले एवं प्रेस किये हुए कपड़े न मिलने पर, भोजन के समय में देरी होने से एवं तय समय पर किसी व्यक्ति से मुलाकात न होने पर ऐसी कई घटनाऐं प्रातः से लेकर रात सोने तक घटती है जो मनुष्य के भीतर क्रोध उत्पन्न करती है। मन को दृढ़ बनाने के लिए तपस्या एक कारगर उपाय है। तप के विषय में कहा गया है-द्वन्द्वों का सहन करना ही तप है।[1] शारीरिक एवं मानसिक द्वन्द्व जैसे सर्दी, गर्मी, काम, क्रोध, लोभ एवं मोह को सहन करना ही तप है। तपस्या जीवन जीने का एक ढंग है। तप एक प्रकार से जीवनदृष्टि है। अभावों, ललचाने और मानसिक रूप इच्छाओं को मारने का नाम तप नहीं है। *तप विपरीत परिस्थितियों में रहने का अभ्यास है। अच्छी-बुरी दोनों परिस्थितियों में तपस्वी को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है।* तप से सहनशक्ति विकसित होती है। योग के अभ्यासी व्यक्ति के जीवन में तप एक अनिवार्य अभ्यास है। तपस्या से शरीर और मन मजबूत बनते हैं जिससे साधक किसी भी परिस्थिति में अपने सन्तुलन को खोने नहीं देता है।

यौगिक आहार-

आहार का मन पर प्रभाव पड़ता है यह वैदिक एवं सनातन ग्रन्थों का एक ऐसा सिद्धान्त है जिससे सभी लोग भलिभांति परिचित हैं। यह कहावत भी जगत् विख्यात है कि जैसा खाये अन्न वैसा बने मन। अर्थात् जो जिस प्रकृति का भोजन ग्रहण करता है। उसका मन भी वैसा ही हो जाता है। जैसे कि भोजन को करने से मन को उत्तेजना प्राप्त हो, मन में क्रोध एवं दुर्विचार पैदा हो ऐसा भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि उस भोजन की प्रकृति तामसिक है। आहार के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है-कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त बहुत गर्म, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष (रजोगुणी) को प्रिय होते हैं।[2] और जो अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह

---

1. तपोद्वन्द्वसहनम्। यो.द. 2/32, व्या.भा.
2. कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।। श्रीमद्भगवद्गीता 17/9

भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है।[1] अतः राजसिक एवं तामसिक प्रकार के भोजन शरीर, मन में विकार करने वाले होते हैं। क्रोधी व्यक्ति का भोजन भी राजसिक या तामसिक प्रवृत्ति का होता है। अतः क्रोध से बचने के लिए भोजन में सात्विकता होनी जरूरी है। श्रीमद्भगवद्गीता में सात्विक आहार की प्रकृति के विषय में कहा गया है- आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय-ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ सात्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं।[2] अतः सात्विक भोजन ग्रहण करने से मनुष्य का मन शांत, स्थिर होता है तथा क्रोध का अभाव हो जाता है।

आसन एवं प्राणायाम-

यौगिक तकनीकों में आसनों का स्थान महत्वपूर्ण है। क्रोध के प्रबन्धन में आसनों का अभ्यास भी सकारात्मक भूमिका निभाते हैं। आसनों में जितने भी ध्यानात्मक आसन हैं, ये सभी मस्तिष्क को शांत करते हैं। ध्यान के अभ्यास के लिए इन्हीं आसनों का प्रयोग किया जाता है। इन आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, स्वतिकासन एवं सुखासन प्रमुख हैं। इन आसनों के अलावा भी शशांकासन, सिंहासन, बालासन, विपरीतकरणी, सर्वांगासन, प्रणामासन आदि भी क्रोध को कम करने में सहायक हैं।

प्राणायाम के अभ्यास से हम क्रोध का प्रबन्धन प्रभावी ढंग से कर सकते हैं। श्वास का सम्बन्ध मन से होता है। मन में उठने वाली प्रत्येक हलचल में श्वास की गति में बदलाव होता रहता है। मन में शांति के भाव होने पर श्वास का क्रम शांत एवं गहरा रहता है। वहीं क्रोध की अवस्था में श्वास तेजी से चलने लगती है। अतः श्वास पर ध्यान केन्द्रित करने से मन की दशा में भारी फेरबदल होने लगता है। प्राणायाम एक ऐसी ही विधि है जिसमें हम श्वासों को लेकर रोकते हैं एवं रोकने के पश्चात् छोड़ते हैं। प्राणायाम की अनेक विधियों का वर्णन योग शास्त्रों में प्राप्त होता है। परन्तु क्रोधी व्यक्ति के लिए नाड़ी शोधन का अभ्यास, शीतली शीत्कारी प्रणायाम एवं भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास बहुत ही लाभकारी है।

मुद्रा एवं ध्यान-

योग शास्त्रों में मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है। योग मुद्रा को परिभाषित करते हुए

1. यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्। श्रीमद्भगवद्गीता 17/10
2. आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः।। श्रीमद्भगवद्गीता 17/8

कहा गया है कि जो चित्त में प्रसन्नता अथवा आनन्द की प्राप्ति कराये उसे मुद्रा कहते हैं। शरीर व मन पर मुद्राओं का प्रभाव शीघ्र ही पड़ने लगता है। मन को क्रोध रहित शांत बनाये रखने के लिए ध्यान मुद्रा, ज्ञान मुद्रा आदि का अभ्यास परम लाभकारी होता है। ध्यान का अभ्यास भी मन को विकारों से रहित बनाता है। मन शांत होने लगता है। वैज्ञानिक शोधों से सिद्ध हो चुका है कि ध्यान का अभ्यास करने से चिंता, तनाव दूर होते हैं। मन में शांति, स्थिरता का विकास होता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि क्रोध का प्रबन्धन हम योग की तकनीकों की सहायता से कर सकते है।

✦✦✦

योगाभ्यास करने वाले तथा न करने वाले विद्यार्थियों के तनाव स्तर का तुलनात्मक अध्ययन

–उदय प्रकाश वर्मा

एम. एस. सी. प्रथम वर्ष, मनोविज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

–डॉ अरुण कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

–रणविजय सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

Abstract

बढ़ती भौतिक समृद्धि ने सघन मानसिक संताप का रूप ले लिया है। मनुष्य ने अपने जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण अपना लिया है। कोलमैन(1967) ने आज के युग को 'मानसिक विकृति का युग' कहा है। एक सर्वे के अनुसार 2020 तक तनाव सबसे बड़ी बीमारी होगी। आज का वातावरण चिन्ता, सामाजिक, आर्थिक अवमूल्यन, बेरोजगारी, तनाव, हिंसा आदि से ग्रसित है। यहाँ तक कि समाज का कोई भी वर्ग मानसिक विकृतियों से बच नहीं पा रहा है। इस समस्या का समाधान योग के माध्यम से संभव हो सकता है। आज मेडिकल क्षेत्र में योग को वैकल्पिक चिकित्सा के रूप में भी स्वीकार किया जा रहा है। कई वैज्ञानिक शोधों से पता चला है कि योग से अनेक मानसिक समस्याओं का निदान मिला है। योग का विद्यार्थियों के तनाव स्तर पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए शोध किया गया है। शोध में स्वतंत्र चर (योगाभ्यास) व आश्रित चर (तनाव) है।

इस अध्ययन में गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के 100 छात्रों पर तनाव स्तर का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, जिसमें 50 छात्र जो कि नियमित रूप से योग करते हैं और 50 छात्र योग न करने वाले हैं। वर्तमान शोध हेतु आकस्मिक प्रतिचयन

विधि का चयन किया गया है। इसमें योग विज्ञान विभाग एम. ए. व बी. ए. के 50 छात्रों का आकस्मिक चयन किया गया। और अन्तिम 50 छात्रों का चयन अन्य विभागों का किया गया। हमारे शोध में 'तनाव मापनी' का प्रयोग छात्रों का तनाव मापने के लिए किया गया है। इस तनाव मापनी पर योग करने वालों का माध्य 25. 54 है जबकि योग न करने वालों का माध्य 45.52 है। *t* value 19.4 है, जो कि दोनों स्तरों पर सार्थक है। तनाव मापनी द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि जो विद्यार्थी नियमित रूप से योग करते हैं उनमें अपेक्षाकृत कम तनाव होता है।

Keywords: योग, तनाव, यम, नियम, आसन, ईश्वरप्रणिधान

Introduction

'योग'-

'योग' शब्द को बहुत ही सकारात्मक रूप में देखा जा सकता है। हमारी इस सुंदर सृष्टि की रचना ही योग के द्वारा हुई है अर्थात् पुरुष और प्रकृति के मिलने से। निर्माण के बिना इस सृष्टि का सुचारु रूप से संचालन और विकास संभव नहीं है। कारण जो भी हो, पौराणिक या आधुनिक योग ही जीवन को व्यवस्थित कर सकता है। इसलिए ऐसा भी कहा जा सकता है कि ''जीवन जीने की कला का नाम ही योग है।'' इस नाते हमारे जीवन में योग की महत्ता काफी बढ़ जाती है। यह वह विज्ञान है जो जीव, चेतना और पदार्थ तीनों को साथ लेकर चलता है।

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। सधीनां योगमिन्वति।
(ऋक् संहिता, मंडल 1, सूक्त 18 मंत्र 7)

अर्थात् योग के बिना विद्वान् का कोई भी यज्ञकर्म सिद्ध नहीं होता है। वह योग क्या है, सो चित्तवृत्तियों का निरोध है, वह कर्तव्य कर्म मात्र में व्याप्त है।

पृथिव्याअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्।। (यजुर्वेद-17/67)

स्वामी दयानन्द ने इस मंत्र का भावार्थ इस प्रकार किया है-''जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। उसके बाद कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं।''

योग का अर्थः-

शाब्दिक अर्थो मेंः- 'योग' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'युज्' धातु

से हुई है जिसका अर्थ है–'जोड़ना'। इस एकीकरण का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा के एकीकरण से लिया जाता है। लघु के विभु, बिंदु के सिंधु, सीमित के असीम और चेतना के महाचेतना में विकसित होने की प्रक्रिया जिस माध्यम से संपन्न होती है, उसे योग कहते हैं।

व्यवहारिक अर्थों में :– व्यवहारिक रूप से योग का अर्थ होता है–जोड़ना या बाँधना। जिस प्रकार घोड़े को एक स्थान पर बाँधकर उसकी चपलता को नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार योग मन की अस्त–व्यस्तता को दूर कर सहज व आनंदयुक्त स्थिति को प्राप्त कराता है।

योग की परिभाषायें:–

महर्षि पतंजलि कृत 'पातंजल योग सूत्र' के अनुसार–

''**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**'' –पातंजल योग सूत्र 1/2

चित्त की वृत्तियों का निरोधा ही योग है।

आचार्य शंकर के भाष्य के अनुसार–

सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः।

यह स्थिति सारे अनर्थों के संयोग से वियोग की अवस्था है, तथापि इसे योग कहते हैं।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का अपने योगदर्शन में वर्णन किया है।

अष्टांग योग

अष्टांग योग के अंगः– अष्टांग योग को राजयोग भी कहा जाता है। पातंजल योग सूत्र में राजयोग के 8 अंग बताये गए हैं–

"**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि॥**"

–2/29

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि राजयोग के 8 अंग हैं।

1. यमः

यम बाह्य अनुशासन का प्रतीक है।

यम्यन्ते उपरम्यन्ते निवर्त्यन्ते हिंसादिभ्य इन्द्रियाणि यैस्ते यमाः॥

(वैदिक योगामृत–आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार, पेज–28)

यम उन्हें कहते हैं जिनके अनुष्ठान के द्वारा इन्द्रियों को विषयों से पृथक् किया जाता है, हटाया जाता है।

यहाँ यम का तात्पर्य पाँच व्रतों की एक संज्ञा है। जो हमें अवांछनीय कार्यो से बचाता है या मुक्ति दिलाता है उसे यम कहते हैं। ये पाँच प्रकार के बताये गए हैं-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। -योग दर्शन 2/30

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं।

क. अहिंसाः-

अहिंसा का अर्थ होता है- न मारना, न सताना, दुःख न देना अर्थात् सदा सर्वदा मन-वचन-कर्म से किसी प्राणी का अपकार न करना अहिंसा है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। -2/35

अहिंसा की पूर्णता और स्थिरता होने पर साधक के संपर्क में आने वाले प्राणियों की हिंसा-बुद्धि दूर हो जाती है। यही अहिंसा की प्रतिष्ठा है।

ख. सत्यः-

मन, वचन और कर्म में एकरूपता अर्थात् अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना। जैसा देखा और सुना, अनुमान करके बुद्धि से निर्णय लिया गया और उसे वैसा ही व्यक्त कर देना सत्य है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। -2/36

सत्य की प्रतिष्ठा होने पर वाणी और विचारों में क्रियाफल दान की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है वह फलित होने लगता है, अर्थात् वाक्सिद्धि हो जाती है।

ग. अस्तेयः-

चोरी न करना। शरीर, मन और वाणी द्वारा दूसरों के द्रव्य की इच्छा न करना अस्तेय कहलाता है।

मनसा वाचा कर्मणा परद्रव्येषु निग्रहः। -याज्ञवल्क्य संहिता

महर्षि पतंजलि ने कहा है–

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। –2/37

अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सर्वरत्नों की प्राप्ति होती है।

घ. ब्रह्मचर्यः–

मन को ईश्वरपरायण बनाए रखना ही ब्रह्मचर्य है।

वीर्यधारणं ब्रह्मचर्यः।

शरीरस्थ वीर्य शक्ति की अविचल रूप में रक्षा करना या धारण करना ब्रह्मचर्य है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है–

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। –2/38

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को वीर्यलाभ होता है। वीर्य लाभ होने से साधना के अनुकूल गुण समूह पैदा होता है, जिससे योगाभ्यासी को आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

ङ. अपरिग्रहः–

संचय वृत्ति का त्याग ही अपरिग्रह है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है–

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः। –2/39

अपरिग्रह के स्थिर होने पर जन्म वृत्तांत का ज्ञान होता है। ऐसे ज्ञान का उदय ही अपरिग्रह के साधन द्वारा होता है।

2. नियमः

नियम का तात्पर्य आंतरिक अनुशासन से है। नियम व्यक्ति के आंतरिक जीवन को अनुशासित करते हैं।

अनुरक्तिः परे तत्वे सततं नियमः स्मृतः। –त्रिशिख ब्र.उप.

परमतत्व में निरंतर अनुरक्ति ही नियम है।

महर्षि पतंजलि ने नियम के पाँच अंग बताए हैं–

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। –2/32

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति ये पाँच नियम हैं।

क. शौचः-

शौच का अर्थ पवित्रता और स्वच्छता से है। इसके दो भाग होते हैं-

* बाह्य शौच

* आंतरिक शौच

* **बाह्य शौचः** - जल, मिट्टी आदि से शरीर को शुद्ध करना बाह्य शौच है।

* **आंतरिक शौचः** - अहंकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय, काम, क्रोध आदि मनोविकारों को दूर करना आंतरिक शौच है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः। -2/40

शौच का पालन करने से अंगों में वैराग्य और दूसरे से संसर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

ख. संतोषः-

अंतःकरण में संतुष्टि का भाव उदय हो जाना संतोष है।

योग रहस्य के अनुसार-

तृष्णाराहित्यं संतोष इति।

तृष्णा से रहित, अत्यधिक पाने की इच्छा का अभाव ही संतोष है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

संतोषादनुत्तमसुखलाभः। -2/42

चित्त में संतोष भाव दृढ प्रतिष्ठित हो जाने पर निरतिशय सुख प्राप्त होता है। निरतिशय सुख व्यक्ति को साधना एवं समाधि तक ले जाता है।

ग. तपः-

तपना, गलना, अपने आपको समर्पित कर देना। अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति तथा योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो शारीरिक या मानसिक अधिक से अधिाक कष्ट प्राप्त हों, उसे सहर्ष सहन करना या स्वीकार करना ही तप है।

महर्षि व्यास ने 'व्यास भाष्य' में कहा है-

तपो द्वन्द्वसहनम्।

जो व्यक्ति सुख-दुःख में विचलित नहीं होता तथा सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करता है, वही तप है। तप के बिना साधना सिद्ध नहीं होती। अतः योग साधना के काल में सरदी-गरमी, भूख-प्यास, आलस्य-जडता आदि द्वंद्वों को सहन करते हुए अपनी साधना में डटे रहना तप कहलाता है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। -2/43

तप के प्रभाव से अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब शरीर और इंद्रियों की शुद्धि हो जाती है।

घ. स्वाध्यायः-

साहित्य के माध्यम से अपना अध्ययन करना। स्वाध्याय का तात्पर्य है- आचार्य, विद्वान् तथा गुरुजनों से वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि मोक्ष मार्गों का अध्ययन करना। स्वयं का अध्ययन करना या स्वयं को जानने का प्रयास करना।

स्वाध्यायात् योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्। (व्या.भा.)

स्वाध्याय से योग साधना के मार्ग का ज्ञान होता है और योग साधना से मोक्ष मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। -2/44

स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार हो जाता है।

ङ. ईश्वरप्रणिधानः-

ईश्वर की उपासना या भक्ति विशेष को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं।

महर्षि व्यास ने 'योग भाष्य' में कहा है-

ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

संपूर्ण कर्मों के फलों के सहित कर्मों को परमगुरु परमेश्वर के निहित अर्पित कर देना ईश्वरप्रणिधान है।

योग की सिद्धि में ईश्वरानुकम्पा आवश्यक है, अतः -

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम्।
गमद् वाजेभिरा स नः। अथर्ववेद 20/69/1

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। -2/45

ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है, अर्थात् प्रणिधान से ईश्वर की अनुकंपा होती है। परमात्मा को हृदय में स्थापित करना, उसे हर घड़ी अपने साथ देखना, रोम-रोम में उसका व्यापक अनुभव करना यह ईश्वरप्रणिधान का चिन्ह है।

3. आसनः-

आसन शब्द संस्कृत शब्द के 'अस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है-बैठना तथा एक आसन वह होता है, जिस पर बैठा जाता है। जैसे-कुश, चटाई, मृगचर्म। इन दोनों के समन्वय होने पर ही पूर्ण आसन कहलाता है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

स्थिरसुखमासनम्। -2/46

स्थिरतापूर्वक सुख के साथ लंबे समय तक जिस पर बैठा जाये; जिस स्थिति में बैठा जाए वह आसन है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः। -2/48

दीर्घकाल तक आसनों का अभ्यास करने से शारीरिक स्तर पर होने वाले द्वंद्व और उससे भी अधिक मानसिक स्तर पर होने वाले द्वंद्व नष्ट हो जाते हैं।

आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः।।

ऋग्वेद 8/100/5

आसन पर बैठे हुए मुझ पर (मेरे मन पर) ऋत=सत्यसाक्षात्कार की कामनायें आरोहण करने लगी हैं, तब हृदय के प्रति मन की कामनाओं को ऐसे कहता हूँ जैसे बालक को उसके अंतरंग मित्र बुलाते हैं।

4. प्राणायामः-

प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है- प्राण व आयाम। प्राण- जीवनी शक्ति। आयाम- विस्तार या धारण करना, नियंत्रण करना या रोकना, अर्थात् प्राणों का विस्तार करना ही प्राणायाम है।

जिस प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टि के लिए व्यायाम का महत्व है, उसी प्रकार प्राण शक्ति की वृद्धि के लिए प्राणायाम आवश्यक है। प्राणों के व्यायाम को ही प्राणायाम कहते हैं।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। -2/49

आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति में विच्छेद कर देना प्राणायाम है या श्वास-प्रश्वास की गति को रोककर बराबर करने की विधा प्राणायाम है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। -2/52

प्राणायाम की सिद्धि होने पर हमारे अंदर आत्मतत्व रूपी प्रकाश पुंज के ऊपर चढा आवरण क्षीण हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश फैलना शुय हो जाता है।

प्राणायाम एक कला है जिसमें तीन क्रियायें हैं- पूरक, रेचक, कुम्भक। पूरक यानी श्वास लेना, रेचक यानी श्वास छोड़ना तथा कुंभक यानी श्वास को भीतर रोककर रखना।

5. प्रत्याहारः-

प्रतिआहार- प्रत्याहार अर्थात् पीछे हटना, उलटा होना। इसमें इंद्रियां बहिर्मुखी विषयों से विमुख होकर अंतर्मुखी हो जाती हैं। प्रति- पीछे, आहार-लेना अर्थात् ग्रहण करना।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
-2/54

अपने विषयों के साथ इंद्रियों का संबंध न होने पर चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना प्रत्याहार है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। -2/55

उस प्रत्याहार से इंद्रियों की सर्वोत्कृष्ट वश्यता होती है, अर्थात् प्रत्याहार से इंद्रियां पूर्णतया वशीभूत हो जाती हैं।

6. धारणाः-

इसका अर्थ होता है-दृष्टिकोण। किसी विषय के बारे में अपनी सोच।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। -3/1

अपने चित्त को किसी देश-विशेष में केन्द्रित करना। किसी एक स्थान विशेष में चित्त को बाँधना धारणा है।

धारणा एक मानसिक प्रक्रिया है। चित्त को एक लक्ष्य विशेष में बाँध देना, उसे वहाँ रोकना या टिका देना धारणा कहलाता है।

7. ध्यानः-

ध्यान शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के ***ध्यै चिन्तायाम्*** धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है-चिंतन करना अर्थात् चित्त को एक ही लक्ष्य पर स्थिर करना।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। -3/2

उस देश विशेष में ध्येय विषयक ज्ञान या वृत्ति का लगातार एक जैसा बने रहना ध्यान है।

आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः।
न त्वामिन्द्राति रिच्यते।। ऋग्वेद-8/92/22

महर्षि दयानन्द का ध्यान का स्पष्टीकरण-''धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेमभक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना इसी का नाम ध्यान है।''

8. समाधिः-

ध्येय वस्तु में एकाग्रतापूर्वक मन का स्थापन ही समाधि है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। -3/3

जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है तब वह ध्यान ही समाधि हो जाता है।

ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसे अपने स्वरूप का अभाव-सा हो जाता है, उसके ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती है, उस समय उस ध्यान का नाम ही समाधि हो जाता है।

समाधि के प्रकारः-

समाधि के दो प्रकार होते हैं- संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि।

1. **संप्रज्ञात समाधिः**- संशय एवं विपर्यय का अभाव हो जाने से जिसके द्वारा ध्येय पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को भली-भाँति जाना जाता है, वह संप्रज्ञात समाधि है।

संशय=भ्रम। विपर्यय=मिथ्या ज्ञान। जैसे आदमी को भूत समझना, रस्सी को साँप समझना आदि, अर्थात् उलटा समझना।

2. **असंप्रज्ञात समाधिः**– यह योग की उच्चतम स्थिति है जो संप्रज्ञात समाधि के पश्चात् होती है। जब संसारी विषयों एवं पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तथा सभी विषयों से चित्त का संबंध छूट जाता है, यही योग की चरम अवस्था है, जिसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

तनाव

तनाव आधुनिक समाज की एक बड़ी समस्या है। आधुनिक शोधों से पता चला है कि 75 प्रतिशत रोगों का कारण यही तनाव होता है। हृदय एवं कैन्सर जैसे जानलेवा रोग में भी तनाव की भूमिका स्थापित हो चुकी है।

मनोवैज्ञानिकों ने तनाव को परिभाषित करने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को अपनाया है जो इस प्रकार हैं–

1. कुछ मनोवैज्ञानिकों ने तनाव को उद्दीपक कारकों के रूप में समझने की कोशिश की है और कहा है कि कोई भी घटना या परिस्थिति जो व्यक्ति को असाधारण अनुक्रिया करने के लिए बाध्य करती है, तनाव कहलाता है। घटनायें जैसे भूकंप, आगजनी, नौकरी छूट जाना, व्यवसाय का खत्म हो जाना, प्रियजनों की मृत्यु कुछ प्रमुख घटना हैं जो व्यक्ति में तनाव उत्पन्न करती हैं। ऐसे भौतिक, सामाजिक तथा पर्यावरणीय कारक जो तनाव उत्पन्न करते हैं, आसेधक कहलाते हैं।
2. कुछ मनोवैज्ञानिकों ने तनाव को अनुक्रिया के रूप में समझने की कोशिश की है। यहाँ मनोवैज्ञानिकों के द्वारा कठिन परिस्थितियों में व्यक्ति द्वारा किये गए मनोवैज्ञानिक एवं दैहिक अनुक्रियाओं पर बल डाला गया है। जब व्यक्ति विशेष तरह की अनुक्रियायें जैसे चिंता, क्रोध आदि एवं दैहिक अनुक्रियायें जैसे नींद न आना, रक्तचाप में वृद्धि आदि दिखाता है तो हम कह सकते हैं कि व्यक्ति में तनाव उत्पन्न हो गया है।
3. मनोवैज्ञानिकों का तीसरा समूह वह है जिसने दोनों ही दृष्टिकोणों के अनुसार न सिर्फ उद्दीपक और न ही सिर्फ अनुक्रिया बल्कि दोनों के संबंधों के आधार पर परिभाषित करने की कोशिश की है। इस उपागम को सम्बंधात्मक उपागम कहा जाता है।

लेजारस एवं फोल्कमैन टेलर आदि के विचारों को संचित करते हुए मनोवैज्ञानिकों ने तनाव की उत्तम परिभाषा दी है–"हम लोग तनाव को एक आंतरिक

व्यवस्था के रूप में परिभाषित करते हैं जो शरीर की दैहिक माँगों या वैसे पर्यावरणीय एवं सामाजिक परिस्थिति जिसे सचमुच में हानिकारक अनियंत्रित योग्य तथा निपटने के मौजूद साधनों को चुनौती देने वाला के रूप में मूल्यांकित किया जाता है, से उत्पन्न होती है।''

बेरोन (1992) ने भी तनाव को कुछ इसी अर्थ में परिभाषित किया है, ''तनाव एक बहुआयामी प्रक्रिया है जो हम लोगों में वैसी घटनाओं के प्रति अनुक्रिया के रूप में उत्पन्न होती है जो हमारे दैहिक एवं मनोवैज्ञानिक कार्यो को विघटित करने की धमकी देता है।''

तनाव की प्रतिक्रियायें:-

तनाव में व्यक्ति दो तरह की अनुक्रियायें करता है, जो निम्न हैं-

* मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियायें (Psychological reactions)
* दैहिक प्रतिक्रियायें (Physiological reactions)

मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियायें:-

तनाव में कई तरह की मनोवैज्ञानिक या मानसिक प्रतिक्रियायें होती हैं। दूसरे शब्दों में, तनाव में व्यक्ति के मानसिक कार्यो में एक तरह का विघटन या क्षुब्धता पायी जाती है। इन सभी तरह के मानसिक विघटनों को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है।

संज्ञानात्मक सिद्धान्त-

तनाव में स्पष्ट रूप से संज्ञानात्मक विकृति पायी जाती है जो व्यक्ति में एकाग्रता की क्षमता कम करती है तथा वह अपने चिंतन को तार्किक रूप से संगठित नहीं कर पाता है। चिंतन में चिंता की भूमिका बढ़ जाती है और व्यक्ति परिस्थिति के विभिन्न पहलुओं को ठीक ढंग से प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। ध्यान में क्षणभंगुरता बढ़ जाती है। स्मरण शक्ति भी कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में तनाव में व्यक्ति के संज्ञानात्मक कार्य में एक तरह की असामान्यता आ जाती है।

1. सांवेगिक अनुक्रियायें (Emotional responses):-

तनाव में व्यक्ति तरह-तरह की सांवेगिक अनुक्रियायें विशेषकर ऋणात्मक सांवेगिक अनुक्रियायें करता है। ऐसी सांवेगिक अनुक्रियाओं में अग्रांकित प्रमुख हैं-

क. **चिंता:**-जब व्यक्ति तनावपूर्ण परिस्थिति से घिर जाता है तो उसमें सबसे पहले जो सांवेगिक अनुक्रियायें होती हैं वह चिंता होती है। चिंता एक ऐसी अप्रिय

सांवेगिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति में डर, आशंकाएँ, परेशानी आदि की प्रधानता होती है।

ख. **क्रोध एवं आक्रामकताः**-तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के प्रति एक अन्य संवेगात्मक अनुक्रिया भी होती है जिसके बाद में व्यक्ति आक्रामक व्यवहार करने लगता है। मनुष्यों तथा पशुओं पर किये गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि तनाव उत्पन्न करने वाले उद्दीपक या परिस्थिति के प्रति प्राणी में पहले क्रोध उत्पन्न होता है और यदि ऐसे उद्दीपक प्राणी के सामने अधिक समय तक बने रहे तो वह उनके प्रति आक्रामकतापूर्ण व्यवहार करने लगाता है।

ग. **भावशून्यता तथा विषाद (Empathy and depression):**- तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थिति के प्रति कुछ लोगों में क्रोध एवं आक्रामकता का व्यवहार न होकर ठीक उसके विपरीत भावशून्यता तथा विषाद का भाव विकसित हो जाता है।

2. दैहिक प्रतिक्रियायें:-

तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थिति या उद्दीपक के प्रति व्यक्ति दैहिक प्रतिक्रियायें भी करता है। अक्सर देखा गया है कि तनावपूर्ण परिस्थिति से घिर जाने पर व्यक्ति में पेट की गडबडी, हृदयगति का असामान्य होना, श्वसन गति में परिवर्तन आदि होते हैं।

आपातकालीन अनुक्रियायें (Emergency responses):- तनाव उत्पन्न करने वाले उद्दीपकों के प्रति व्यक्ति के शरीर में कुछ ऐसी अनुक्रियायें होती हैं जिन्हें आपातकालीन अनुक्रियायें कहते हैं। ऐसी अनुक्रियाओं के माध्यम से शरीर में यकृत अधिक मात्रा में चीनी उत्सर्जित करता है ताकि शरीर की मांसपेशियों को अधिक से अधिक शक्ति मिल पाये। शरीर में कुछ ऐसे हार्मोन्स निकलने लगते हैं जो चर्बी तथा प्रोटीन को चीनी में बदल देते हैं, जिससे शारीरिक कार्यों के लिए पर्याप्त ऊर्जा व्यक्ति को मिलने लगती है। व्यक्ति के हृदयगति, श्वसनगति में परिवर्तन, रक्तचाप में वृद्धि तथा मांसपेशियों में तनाव काफी बढ़ जाता है। लार या श्लेष्मा की मात्रा में काफी कमी आ जाती है ताकि फेफडों को अधिक से अधिक वायु प्रवेश करने के रास्ते में कहीं कोई रुकावट नहीं आए। इंडोर्फिन्स जो एक तरह का स्वाभाविक दर्दनाशक है उस की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तथा शरीर के सतही क्षेत्रों में पायी जाने वाली रक्तनलिकायें थोड़ी संकुचित हो जाती हैं जिसके परिणाम-स्वरूप तनावपूर्ण परिस्थिति से निबटने में शरीर में कहीं कुछ कट-फट भी जाता है तो कम मात्रा में रक्त व्यक्ति के शरीर से निकलता है। प्लीहा अधिक मात्रा में लाल

रक्त कण का उत्सर्जन करता है ताकि अधिक से अधिक आक्सीजन शरीर के सभी अंगों को मिल सके।

उक्त तरह की आपातकालीन अनुक्रियाओं का उद्देश्य केवल एक ही होता है– तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के साथ ठीक तरीके से निपटना तथा उसके साथ उपयुक्त समायोजन करना। ये सभी दैहिक अनुक्रियायें स्वायत्त तंत्रिका तंत्र तथा अन्तःस्रावी ग्रंथि खासकर एड्रिनल ग्रंथि तथा पीयूष ग्रंथि की मदद से नियंत्रित व नियमित होती हैं। प्रायः ऐसी परिस्थिति में स्वायत्त तंत्रिका तंत्र अपना कार्य हाइपोथैलेमस के नियंत्रण में करता है। इस तरह के पैटर्न जो जटिल होने के साथ जन्मजात भी होते हैं, को कैनन ने ''भिड़ो या भागो अनुक्रिया'' कहा है। इसे सेली ने चेतावनी प्रतिक्रिया कहा है।

आसेधक की श्रेणियांः–

व्यक्ति में किन कारकों से तनाव उत्पन्न होता है इसका गहन अध्ययन मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया है और इन कारकों की एक सूची तैयार की गयी जिनसे व्यक्ति में तनाव उत्पन्न होता है। ऐसे कारकों में निम्नांकित प्रमुख हैं–

1. तनावपूर्ण जीवन की घटना (Stressful life events)
2. प्रेरकों का संघर्ष (Conflict of motives)
3. दिन–प्रतिदिन का उत्पादन (Daily hassles)
4. कार्य उत्पन्न तनाव (Work-related sources)
5. पर्यावरणीय स्रोत (Environmental sources)
6. कुंठा (Frustration)

इन सबका वर्णन इस प्रकार है–

* **तनावपूर्ण जीवन की घटनाएंः**–व्यक्ति की जिंदगी में तरह–तरह की घटनायें घटती रहती हैं। कुछ सुखद होती हैं तो कुछ दुखद। इन दोनों तरह की घटनाओं की प्रमुख जरूरत यह होती है कि व्यक्ति उनके साथ पुनर्समायोजन करे। मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि ऐसी घटनाओं के प्रति जब व्यक्ति ठीक ढंग से समायोजन नहीं कर पाता है तो वे तनाव उत्पन्न करती हैं और व्यक्ति में दैहिक और सांवेगिक विकृतियां उत्पन्न कर देती हैं।
* **प्रेरकों का संघर्षः**–जब अभिप्रेरकों के बीच संघर्ष होता है, तो इससे व्यक्ति में तनाव उत्पन्न होता है।

* **दिन-प्रतिदिन की उलझनः**-जिंदगी की बड़ी एवं महत्वपूर्ण घटना तो सामान्य रूप से तनाव के स्रोत हैं परन्तु दिन-प्रतिदिन की छोटी-मोटी उलझनों से भी तनाव होता पाया गया है।
* **कार्य से उत्पन्न तनावः**-व्यक्ति जिस कार्य को करता है, उससे संबंधित कुछ कारक ऐसे होते हैं जो उसमें तनाव उत्पन्न करते हैं। जैसे किसी कर्मचारी को बहुत कम समय में बहुत सारे कार्य यदि करने के लिए कहा जाता है, तो इससे स्वभावतः उसमें तनाव उत्पन्न हो जाता है।
* **पर्यावरणीय स्रोतः**-तनाव उत्पन्न होने का कारण पर्यावरण भी होता है। कुछ पर्यावरणीय कारक ऐसे हैं जो स्वाभाविक होते हैं और व्यक्ति में तनाव उत्पन्न करते हैं। जैसे-भूकंप, आगजनी, तीव्र आँधी, तूफान आदि कुछ ऐसे ही कारक हैं जो व्यक्ति में तनाव उत्पन्न करते हैं।
* **कुंठाः**-जब व्यक्ति की कोशिश किसी लक्ष्य तक पहुँचने में बाधित हो जाती है, तो इससे व्यक्ति में कुंठा उत्पन्न होती है। ऐसी कई चीजें हैं जिनसे व्यक्ति की दिन-प्रतिदिन की जिंदगी में कुंठा उत्पन्न होती है। इसमें विभेद, पूर्वाग्रह, कार्य-असन्तुष्टि तथा प्रियजनों की मृत्यु आदि प्रमुख बाह्य कारक हैं जो व्यक्ति में तनाव उत्पन्न करते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि व्यक्ति में तनाव कई कारणों से उत्पन्न होता है। यदि हम तनाव को कम करने के उपाय पर सोचते हैं तो हमें इसके कारकों पर भी ध्यान रखना होगा।

शोध में प्रयुक्त परिकल्पना का कथन

"योगाभ्यास करने वाले तथा न करने वाले विद्यार्थियों के तनाव स्तर में कोई अन्तर नहीं है।"

विधि

वर्तमान शोध हेतु आकस्मिक प्रतिचयन विधि का चयन किया गया है। इसमें हमने पचास-पचास की संख्या में योग करने वाले तथा न करने वाले छात्रों का चयन किया।

शोध में प्रयुक्त चर

स्वतंत्र चरः-प्रस्तुत शोध में "योगाभ्यास" स्वतंत्र चर है।

आश्रित चरः-प्रस्तुत शोध में "तनाव स्तर" आश्रित चर है।

तनाव मापनी

हमारी शोध में 'तनाव मापनी' का प्रयोग व्यक्तियों की मनोवृत्ति मापने के लिए किया गया है। इस मापनी का निर्माण डॉ. एम सिंह के द्वारा किया गया है। इसमें 40 कथन हैं, जिनके तीन वैकल्पिक उत्तर हैं।

विश्वसनीयताः–

split- half method द्वारा सह–सम्बन्ध गुणांक 0.82 प्राप्त हुआ है।

Test-retest method द्वारा सह–सम्बन्ध गुणांक 0.79 प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार इस मापनी की विश्वसनीयता उच्च है।

Validity:–इस मापनी में वैधता 0.61 है, इस प्रकार इस मापनी की वैधता उच्च है।

परिणाम

परिणाम तालिका–1 योगाभ्यास करने वाले तथा न करने वालों का माध्य, मानक विचलन तथा *t*–मान

Group	N	Mean	SD	SED	t- value	level of significant
Non yoga practicener	50	45.52	6.73	1.03	19.4	**
yoga practicener	50	25.54	2.9			

df degree of freedom=k 98

विश्लेषणः–

परिणाम सारणी के आधार पर तनाव का योगाभ्यास न करने वाले छात्रों का मध्यमान 45.52 तथा मानक विचलन 6.73 है तथा योगाभ्यास करने वाले छात्रों का मध्यमान 25.54 तथा मानक विचलन 2.9 है। योगाभ्यास न करने वाले छात्रों व योगाभ्यास करने वाले छात्रों के मध्यमानों के बीच अंतर की सार्थकता की जाँच के लिए ज.परीक्षण का उपयोग किया जिससे सार्थकता का स्तर 0.01 व 0.05 दोनों पर सार्थक अंतर प्राप्त हुआ क्योंकि परिणाम सारणी से प्राप्त ज.परीक्षण मान 19.4 है जो योगाभ्यास न करने वाले तथा योगाभ्यास करने वाले छात्रों के बीच अंतर की सार्थकता सिद्ध करता है। अतः यहाँ हमारी शून्य परिकल्पना निरस्त हो जाती है, जो यह साबित करता है योगाभ्यास न करने वाले तथा योगाभ्यास करने वाले छात्रों के

बीच सार्थक अंतर आया है। यह सिद्ध होता है कि योग करने से व्यक्ति में तनाव निम्न रहता है।

ग्रॉफ-1 योगाभ्यास करने वाले तथा न करने वालों का माध्य में अन्तर

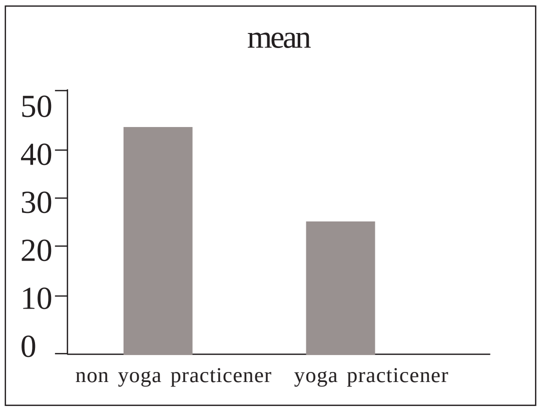

परिणाम की व्याख्या एवं विवेचनाः-

प्रस्तुत अध्ययन में यह जानने का प्रयास किया गया है कि योगाभ्यास करने वाले व न करने वाले छात्रों के तनाव स्तर में क्या अंतर होता है। इसके लिए निराकरणीय परिकल्पना का निर्माण उपयुक्त सांख्यिकीय प्रविधि के अंतर्गत ही किया गया। परीक्षण कर प्राप्त आंकडों का सांख्यिकीय विश्लेषण किया गया। परिणाम सारणी से स्पष्ट है कि शून्य परिकल्पना 0.01 विश्वास स्तर पर अस्वीकृत हुई अतः स्पष्ट होता है कि योगाभ्यास न करने वालों में तनाव अधिक रहता है।

अतः हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत शोध पूर्व में किये गए तमाम ऐसे शोधों से संगत है, जिसमें यह परिणाम आया है कि योग के द्वारा न सिर्फ शारीरिक बल्कि अनेकानेक मानसिक विकारों से निजात पाया जा सकता है।

निष्कर्षः-

परिणाम से यह ज्ञात हुआ कि हमारी शून्य परिकल्पना 0.01 स्तर पर अस्वीकृत हो जाती है। योगाभ्यास करने वाले व न करने वाले छात्रों के तनाव के स्तर में सार्थक अंतर होता है। योगाभ्यास करने वाले छात्रों का तनाव अपेक्षाकृत कम होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः-

1. पाण्डेय, रेवतीरमण, समग्र योग (प्राचीन-योग, बौद्ध-जैन-योग, समग्र योग), प्रकाशन-कला प्रकाशन, बी० 33/33-ए-1, न्यू साकेत कालोनी, बी०एच०यू०, वाराणसी-5
2. वर्मा, विद्यासागर, योगदर्शनः काव्य व्याख्या, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058
3. गोयन्दका, हरिकृष्णदास, पातंजलयोगदर्शन, गीताप्रेस, गोरखपुर
4. बन्धु, मनुदेव, उपनिषद् वाङ्मय में योगविद्या, प्रतिभा प्रकाशन, 7259/23 अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर, शक्तिनगर, दिल्ली-7
5. सिंह, अरुण कुमार, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, 41 यू०ए०, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-110007

✦✦✦

महर्षिदयानन्दसरस्वतीनां वैदिकाख्यानव्याख्यानम्

–प्रो. मानसिहः

60/3, मुंशीप्रेमचन्दमार्गः
नवीनं नेहरुनगरम्,
रुड़की (जनपदम्-हरिद्वारम्)

स्वीयायामृग्वेदादिभाष्यभूमिकायां महर्षिदयानन्दसरस्वतीभिः कतिपयानां वैदिकाख्यानानां व्याख्यानं कृतम्, न विद्यते वेदेऽनित्यवस्तूनां प्राणिनां वेतिहास इति च तैः सुतरां सिद्धम्। अत्रैतान्याख्यानानि विचारविषयतामानीयन्ते।

(1) प्रजापतेः स्वदुहितृगमनम्

ऋग्वेदीययोऽधस्तनयोर्मन्त्रयोः पितुर्दुहितृगर्भाधानं सङ्केतितम्-

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो ३ योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥
(१.१६४.३३)

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यांगाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्य्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्संशग्म्येन मनसा दधन्वे॥ (३.३१.१)

प्रथममन्त्रो महर्षिदयानन्दसरस्वतीभिरित्थं व्याख्यातः – "सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति। तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। यस्माद् यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः। स च तां रोहितां किञ्चिदारक्तागुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति। एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनद् उत्पादयति। अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत् सूर्य्यश्च। कुतः? तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद् दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्। यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्च-घटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित् सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति, तस्योषा इति संज्ञा। तयोः पितुर्दुहित्रोः समागमाद् उत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः। यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम्।

---

1. सं. युधिष्ठिरो मीमांसकः, ऋग्वेद-भाष्यम्, प्रथमो भागः (बहालगढम्: रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1973, पृ. 324-338, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)।

एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत् [रूपकालङ्कारः]। कुतः? पर्जन्याद्द्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति। स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जल-प्रक्षेपणेन गर्भं दधाति। तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते। अयमपि रूपकालङ्कारः॥"

द्वितीयं मन्त्रं व्याख्यायद्भिस्तैरुक्तम् – "वह्निशब्देन सूर्य्यो दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव। स पिता स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसपुत्र-मजनयदिति।"

व्याख्यानमिदं तैरधोदत्तसन्दर्भप्रमाणेन कृतम्-

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य
आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्,
तस्य यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत्।
(ऐतरेयब्राह्मणम्, 3.33, 34)

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता।
(माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्, 10.2.2.4)

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः। (निरुक्तम्, 4.21)

शतपथब्राह्मणेऽप्यन्यत्रोक्तम्-

प्रजापतिर्हवै स्वां दुहितरमभिदध्यौ दिवं वोषसं वा
मिथुन्येनया स्यामिति तां सम्बभूव। स वै यज्ञ एव प्रजापतिः।
(माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्, 1.7.4)

अतो महर्षिदयानन्दकृतं व्याख्यानन्तु सर्वथा समीचीनमेव। प्रजापतेः स्वदुहितृ-गर्भाधानन्त्वत्र केवलमालङ्कारिकमेव, न तु वास्तविकम्।

(2) इन्द्रस्याहल्याजारत्वम्

ऋग्वेदे "**जा॒र आ भग॑म्**" (10.11.6; अथर्ववेदे 18.1.23) इति मन्त्रेऽहल्यां प्रतीन्द्रस्य जारत्वं सङ्केतितम्। एवमेव शतपथब्राह्मणेऽप्युक्तम्–"इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्न-हल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैवमेतत् प्रमुमोदयिषति।" (माध्यन्दिनशतपथ-ब्राह्मणम्, 3.3.4.8)। वस्तुतस्त्वत्राहल्या रात्रिरिन्द्रश्चादित्यः, अहरस्यां लीयत इत्यहल्या रात्रिः, रात्रेर्जरयितृत्वादादित्यस्य जारत्वम्। इन्द्रस्यादित्यत्वमधस्तनैः सन्दर्भैः सुतरां सिद्धम्-

अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः।
(माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्, 8.5.3.2)

एष एवेन्द्रो य एष तपति।
(तदेव, 1.6.4.18)

असौ वा आदित्य इन्द्रो रश्मयः क्रीडयः।

(मैत्रायणीसंहिता, 1.10.16; काठकसंहिता, 3.6.10)

उक्तञ्च यास्केन–"आदित्योऽत्र जार उच्यते। रात्रेर्जरयिता। स एव भासाम्।[1]" (निरुक्तम्, 3.16)। अत इन्द्रस्याहल्याजारत्वमप्यालङ्कारिकमेव, न तु सत्यभूतम्। अत एव सर्वथोचितमेवास्य प्रसङ्गस्य महर्षिदयानन्दसरस्वतीसम्मतमिदं व्याख्यानम्–"इन्द्रः सूर्य्यो य एष तपति, भूमिस्थान् पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्य्य-प्राप्तिहेतुत्वात्। स अहल्याया जारोऽस्ति। सः सोमस्य स्त्री गोतम इति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति 'गोतम'श्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति। रात्रिरहल्या। कस्माद्? अहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रि-'रहल्योच्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति।

अत्र स सूर्य्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः? अयं रात्रेर्जरयिता। जष् वयोहानाविति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य्य एवेति मन्तव्यम्।"

(3) इन्द्रवृत्रयोर्युद्धं वृत्रवधश्च

महर्षिदयानन्दसरस्वतीमहोदया अस्मिन्प्रसङ्गे मन्त्रषट्कमृग्वेदीयं प्रस्तौति[2]। सर्वत्र च तैरिन्द्रः सूर्योऽहीत्यपरसंज्ञो वृत्रश्च मेघ इति मत्वा व्याख्या कृता। वर्षकर्मैवात्रेन्द्रस्य वृत्रवधः। वृत्रस्वरूपविषये निर्वचनद्वारेण यास्क एव कथयति–"वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्ततेर्वा वर्द्धतेर्वा। यदवृणोत्तत् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्द्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। (निरुक्तम्, 2.17)। तत्र को वृत्र इति स्पष्टयन् स ब्रूते–"तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च।" (निरुक्तम्, 2.16)। अतो नैरुक्तमतानुसारेण तु मेघ एव वृत्रोऽपाञ्च ज्योतिषश्च[3] मिश्रणव्यापारादेव वृष्टिर्जायते; अयं मिश्रीभाव एवौपम्येन मन्त्रेष्विन्द्रवृत्रयुद्धत्वेन वर्णनविषयतां नीतः। शतपथब्राह्मणादिग्रन्थेष्वप्येतादृशमेव युद्धवर्णनमवाप्यते–"वृत्रो ह वाऽइद॑ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी, स यदिद॑ सर्वं वृत्त्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम। तमिन्द्रो जघान।" (माध्यन्दिनशतपथ- ब्राह्मणम्, 1.1.3.4)। अन्यत्रापीन्द्रवृत्रसङ्ग्रामस्य वृत्रवधस्य च वर्णनं समुपलभ्यते–

1. एवमेव "स्वर्सुर्जारः शृणोतु नः" (ऋग्वेदः, 6.55.5) इति मन्त्रस्य व्याख्याप्रसङ्गे यास्केन कथितम्–"उषसमस्य स्वसारमाह। साहचर्यात्। रसहरणाद्वा" (निरुक्तम्, 3.16)।
2. ऋग्वेदः, 1.32.1, 2, 5, 7, 10, 13। व्याख्यानार्थं द्रष्टव्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 331–333
3. सूर्यरश्मिजन्यविद्युतः।

वृत्रं खलु वा एष हन्ति यः सङ्ग्रामं जयति। (मैत्रायणीसंहिता,2. 2.10)

वृत्रमेष जिघाꣳसति यस्सङ्ग्रामं जिगीषति। (काठकसंहिता, 10.9)

अतो महर्षिदयानन्दसरस्वतीभिर्यास्कप्रमाणेनेवेन्द्रवृत्रयुद्धं व्याख्यातम्। युद्धमिदमौपमिकमेव।

ऋग्वेदादेवैतत्सिद्धं यदिन्द्रस्य युद्धानि वस्तुतस्तु मायैव, न तस्याद्यत्वे शत्रुर्वर्तते न च पुरा कश्चिदासीत्–

यदचं॑रस्त॒न्वा॑ वावृधा॒नो बला॑नीन्द्र प्रब्रुवा॒णो जने॑षु।
मा॒येत्सा ते॒ यानि॑ यु॒द्धान्या॒हुर्नाद्य शत्रुं॒ न॒नु पु॒रा वि॑वित्से।।

"**अ॒श॒त्रुरि॑न्द्र जज्ञिषे**" (ऋग्वेदः, 10.133.2) इत्यादिभिर्मन्त्रैरप्येतदेव प्रमाणितम्। अत एवेन्द्रयुद्धचर्चा तूपमार्थेनैव प्रसृता।

(4) देवासुरसङ्ग्रामः

"देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः।" (माध्यन्दिन शतपथब्राह्मणम्, 1.7.2.22); "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः" (तदेव 14.4.1.1.,3) इत्यादिभिः शतपथब्राह्मणवचनेर्देवाश्चासुराश्चोभये प्रजापतिपुत्रा इति ज्ञायते। शतपथब्राह्मणानुसारं प्राणा वा ऊग्वी देवाः, माया असुराः–"प्राणा देवाः" (6.3.1.15); "ऊगिति देवा मायेत्यसुराः" (10.5.2.20)। ते हि सङ्ग्रामं कर्तुं तत्परा आसन्–"देवासुराः संयता आसन्" (13.3.4.1)।

महर्षिदयानन्दसरस्वत्यनुसारं विद्वांसो हि देवास्तद्विपरीता[1] अविद्वांसोऽसुराः। एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्ततेऽयमेव देवासुरसङ्ग्रामः। अथवा पुण्यात्मा मनुष्यो देवोऽस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च। एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि देवासुरसङ्ग्रामोऽस्तीति विज्ञेयम्। अथवा दिनं देवो रात्रिरसुरः, एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्तते। अथवा ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्तेऽसुराः। ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्या देवाश्च विज्ञेयाः। एतयोरपि परस्परं विरोधात् सङ्ग्राम इव भवति। इत्थं रूपकालङ्कारेण वेदे देवासुरसङ्ग्रामकल्पना।[2]

(5) कश्यपकथा

ब्रह्मवैवर्तादिषु ग्रन्थेषु कश्यपकथा प्राप्यते। तदनुसारं कश्यपो नाम मरीचिपुत्रः कश्चिदृषिरासीत्, तस्मै दक्षप्रजापतिना त्रयोदशकन्या विवाहविधिना दत्ताः। तत्सङ्गमे दितेर्दैत्याः, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव कद्रवाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः,

---

1. तुलनीय माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्, 3.7.3.10: विद्वाꣳसो हि देवाः।
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 335–336

तथान्यासां सकाशाद्वानरर्च्छवृक्षघासादय उत्पन्ना:। वस्तुतो वैदिकवाङ्मये शतपथब्राह्मणे कश्यपवर्णनमित्थं समुपलभ्यते–

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत,
यदसृजताकरोत् तद् यदकरोत् तस्मात्कूर्म्मः,
कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यपा इति।

(माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्, 7.5.1.5)

एतदनुसारेण तु प्रजापतिर्जगत्स्रष्टैव कश्यप:। तस्मादुत्पत्तेरेवेमा: सर्वा: प्रजा: काश्यपा इत्युच्यन्ते। कश्यप: कस्मात् पश्यको भवतीति निरुक्त्या[1] पश्यक: (सर्वद्रष्टा) एव कश्यप आद्यन्ताक्षरविपर्य्यात्। स एव प्रजासृष्टिकर्मकर्तृत्वात् कूर्म्म इत्युच्यते। अत एव ब्रह्मवैवर्तादिग्रन्थेषु सम्प्राप्तेतिहासकथा तु कल्पनाप्ररोह एव।

श्रीमतां महर्षिदयानन्दसरस्वतीनां दृढं मतमिदं यद्वेदेऽनित्यानां लौकिकानाञ्च वस्तूनां जनानां वा कोऽपीतिहासो न विद्यते। मतञ्चेदं सर्वथा वैदिकपरम्परानुमोदितं वर्तते। वस्तुतस्त्वपौरुषेये वेदे केषामपि लौकिकानां मानवानां, घटनानां पदार्थानां वेतिहासस्य किमप्यौचित्यं नास्ति। लोकस्यैव वेदानुगामित्वं, न तु वेदस्य लोकानुगामित्वम्। इदमेव स्पष्टयता मनुना भणितं यत्सृष्टेरादौ परमात्मना हिरण्यगर्भेण वेदशब्देभ्य एव समेषां पदार्थानां प्राणिनाञ्च पृथक् पृथक् नामानि कर्माणि च पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।[2] नैरुक्तसम्प्रदायस्तु वेदान्तर्गतमितिहासमाख्यानजातञ्चार्थवाद एव मनुते न तु सत्यभूतम्। आचार्ययास्कानुसारेण त्वृषेर्दृष्टार्थस्याख्यानसंयोजने प्रीतिर्भवति।[3] ऋषिर्दृष्टार्थस्य मनोहारिसम्प्रेषणार्थं तमाख्यानसंयुक्तं करोति। अनेन दृष्टार्थस्य संयुक्ता–दाख्यानात्पृथक्त्वं सुतरां सिद्धम्। अतो मन्त्रेष्वितिहास आख्यानानि वा केवलं रूपकात्मकान्यर्थवादरूपाणि वा सन्ति। अस्मिन् विषये वररुचि[4]दुर्ग[5]स्कन्दस्वामिप्रभृतीना–

1. तैत्तिरीयारण्यकम्, 1.8.8: कश्यप: पश्यको भवति। यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्।
2. मनुस्मृति:, 1.21: सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
   वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।।
3. निरुक्तम्, 10.10.46: ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।
4. निरुक्तसमुच्चय: (सं. युधिष्ठिरो मीमांसक:, अजमेरनगरम्: प्राच्यविद्याप्रतिष्ठानम्, द्वितीयं संस्करणम्, सं.2022), पृ.85–86: एवमितिहासपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु पुरुरवा मध्यमस्थान:। वाटवादीनामेकत्वात् पुरु रौतीति पुरुरवा: उर्वशी विद्युत्। उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं दिव्यत इति उर्वशी; पृ.88: एवमैतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु यमी मध्यमा वाक्। यमश्च मध्यमस्थान:।
5. वृत्ति:, निरुक्तम् 10.26: एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविद इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण य: कश्चिदाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिको वार्थआख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। ***स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेश–परत्वात्।***

माचार्याणामपि[1] मतमेतादृशमेव। आचार्ययास्कस्त्वेतादृशैरितिहासैराख्यानैर्वा सम्बद्धानां पात्राणां वैकल्पिकीं व्याख्यां प्रस्तौति।[2]

✦✦✦

---

1. टीका, निरुक्तम् 2.12: एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या:। एष: शास्त्रे सिद्धान्त:। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमय:। परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्।
2. उदाहरणार्थं द्रष्टव्यं निरुक्तम्, 2.16: "तत्को वृत्र:? मेघ इति नैरुक्ता: त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका:। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।" अस्मिन् विषये विस्तरार्थं द्रष्टव्यौ सुधीरकुमारगुप्तानां "Ancient Schools of Vedic Interpretation" (श्रीगङ्गानाथ झा-केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठस्य शोधपत्रिका, प्रयाग:, अङ्क: 15, भाग: 1, पृ. 149), "Validity of Historical and Legendary Interpretation of Vedic Stanzas" (भारतीयशोधसारसङ्ग्रह:, जयपुरम्, अङ्क: 2, एप्रिल-जुलाई 1971, पृ.51-62) इति लेखौ; अस्माकं "Yaska on Vedic Exegesis" (श्रीगङ्गानाथझा-केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठस्य शोधपत्रिका, प्रयोग:, अङ्क: 43, जन.-दिस. 1987, पृ. 73-48), "वैदिक आख्यान और आचार्य यास्क" (सैव, अङ्क: 47, भागा: 1-4, जन. -दिस.1991) इति लेखौ; स्वामिविद्यानन्दसरस्वतीनां "वैदिक आख्यानों का वास्तविक स्वरूप" (प्रह्लादस्मारकव्याख्यानमाला, भाग: 1, दिल्ली : ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 1982, पृ. 49-63) इति लेख:; पं. शिवशङ्करकाव्यतीर्थाना "वैदिक-इतिहासार्थ-निर्णय" (सं. ब्रह्मदेवो विद्यालङ्कार:, कुरुक्षेत्रम्, 2009) इति ग्रन्थ:, रामनाथवेदालङ्काराणाञ्च "वेदभाष्यकारों की वेदार्थप्रक्रियाएँ" (होशियारपुरम् : वि.वि. तथा प्राच्यविद्या-शोधसंस्थानम्, 1980, पृ. 29-47) इति ग्रन्थ:।

In the Beginning - the start of Philosophy in the Rigveda (I)

Dr Nicholas Kazanas,

Director of Omilos Meleton,
Cultural Institute, Athens, Greece

0. In this paper I examine briefly the real situation regarding the religiophilosophical frame of belief in Ancient India and particularly in the Vedic period. While undoubtedly the worship of many different, as it seems, gods was paramount in the Rigvedic hymns, yet some of those hymns reveal a firm faith in the One Absolute of which the many are manifestations. A little deeper enquiry into the hymns and the Upanishads subsequently reveals that a philosophy like that of Adi Shankara's Vedānta was already in full operation beside the worship of the many, the sacrificial rituals and all the other religious practices of that period.

1. In the beginning was That One ...

ā́nid avāt m svadh yā t d ékam; t smād-dhāny n-n par ḥ kím canā́sa 'That one breathed without air of its own power; there was nothing else beyond, other than That' *RV* (*Ṛgveda*) 10.129.2.

This, say many, is a late hymn from the last of the 10 Books of the *RV*. So we go to an earlier period, hymn 8.54 where the 2nd stanza says in successive parallel statements about one appearing as many: *éka evā́gnír bahudhā́ s middha, ékaḥ sū́ryo víśvam nu pr bhūt ḥ; ékaivóṣ ḥ s rvam id ü víbhaty, ékaü vā id ü ví babhūva s rvam* 'Agni being one is kindled variously [in many places]; the sun being one has prevailed over all; Dawn being one, indeed, lights all this [creation]; This One has variously (*vi*) become all [and everything]'. But this too is somewhat late.

An even earlier hymn from the Viśvāmitra family Book 3 says: *éjad dhruv ü patyate víśvam ékaü c rat patatṛ víṣuṇaü víjāt m* 'Moving yet firm the One governs all ûthis generated multiplicity, what walks and flies', 3.54.8 cd. And I disregard here the syntax with its neuters which suggests that even this manifold (viśuṇa) creation is a unity. But it

is a superb statement.

And to dispel any lingering doubts in *RV* 1.164.46 Dirghatamas tells us *ékaü s d víprā bahudh vadanti agníü yam ü mātaríśvānam ahuḥ* 'Though being One, the wise speak of it with many [godly] names - Agni, Yama, Mātariśvan'. And I add, the wise do this because That One has become and appears as all these phenomena, divine and mundane, all worlds, all gods, all creatures that walk and fly.

Long before Moslem, Christian and Judaic monotheism, long before the philosophical traditions and schools in ancient India and long before the Upanishads declared the absolute Brahman, the *Ṛgveda* hymns revealed the Unity from which emerged the multiplicity. And the *ṛśis* did this in an almost off-the-cuff, nonchalant manner, as though, despite the many gods praised and worshipped by the people, the idea of That One was not uncommon. For we find in the hymns no devotional, elaborate, repetitions or pompous descriptions of That One indicating a need to fill gaps in knowledge and to explain its nature and power - as is done in subsequent works like most Upanishads and the Gītā.

Let us take another example from the early third Viśvāmitra family Book. The 22 stanzas of hymn 55 say *mah d devắnām asuratv m ékam* 'great is the single lordly-power of the gods'. The power of the asuras/devas is single and at a universal level, beyond each individual god, and they are asuras/gods by partaking of it. The idea is repeated elsewhere, as in 1.68.2 : *bh janta víśve devatv m nắma* 'all enjoy/share godhood indeed'. Again, they are gods by sharing in the universal abstraction ægodhood'. And in 2.33.9 Rudra is made lord of this world by the asuryá which does not leave him - the mute implication being that the power could leave him!

2. So it is not only late "philosophical" hymns that know of the One [Absolute] from which arise all and everything. Early ones know of it also.

The primordial unity is differently presented in the (pantheistic) hymn *Puruṣa Sūkta*, 10.90. Puruṣa is the cosmic being/man who manifests the universe with only one quarter of himself becoming all things, while the other three remain immortal in heaven. (By the way, what is 'heaven' in the RV, and 'midair' *antarikṣa* and 'earth' *pṛthivi* and the three subdivisions of each making a total of nine worlds or levels?).

Th. McEvilley, an American scholar, finds antecedents for this hymn

in the Egyptian Memphite Theology, where various deities are said to be parts of god Ptāh - even though Ptāh does not sacrifice himself, no worlds or creatures arise from his members and the text is not earlier than 1200 BCE. But he calls the rigvedic hymn "macranthropic" and sees in it influences not only from Egypt but also Mesopotamia, from the hymns to Inanna/Ishtar and Marduk, even though these again present no sacrificial evolution (2002: 24-27).

The rigvedic hymn is not "macranthropic" but cosmogonic and theogonic. It presents the evolution of the One into the multiplicity of the creation. Even Hesiod's theogony, particularly the castration of Ouranos by his son Kronos, does not result in a large scale creation - only the rise of Aphrodite and various nymphs. In the *puruṣa* hymn the cosmogony is explicit. From his head arose the Sky; from his mind the Moon; from his eye the Sun; from his mouth Agni and Indra; from his breath Vāyu; from his navel the midair *antarikṣa*; from his ear the space-quarters. Then, his very mouth became the brāhmin *varṇa*, his arms the *rājaṇya* 'aristocrats', his thighs the *v iśya* 'producers' and his feet the śūdr , the servile *varṇa*.

Why does a scholar ignore the obvious so blatantly and finds influences and parallels where none exist? Unfortunately pedants do just this.

3. This question brings me to another aspect of deliberate ignorance on the part of highly respectable scholars. This time it is with regard to the well-known *Nāsadīya Sūkta, RV* 10.129, which presents a yet different aspect of cosmogonic and anthropogonic creation.

In the *RV* often *Dyaus*, father Sky, and *Pṛthivī*, mother Earth, are 'the Parents' who engender the gods and the worlds (e.g. 1.159.2 etc). Elsewhere (5.30.5) Indra does this. Also, Brahmaṇaspati is said to be the deities' father (2.26.3), while in 10.72.6 he fashions the cosmos like a smith. Elsewhere Soma performs the function of fathering the deities (9.87.2) and in 1.113.9 Uṣas mothers the gods. Then, in 10.72 Aditi generates the gods and the *martāṇḍa* 'the dead egg' which is the sun - being born and dying again and again (st 8-9). And there are other creator-gods like *Tvaṣṭṛ*. Now, behind this apparent confusion and inconsistency lies presumably the idea that it does not matter what deity is given priority or fatherhood at any instance since each and every one is the expression of That One, the absolute Godhead, that is neither female nor male, beyond gender and *guṇas* 'qualities'.

In 10.129 'the Creation Hymn' as it is known in the West, in the

beginning, before creation, where there was no existence or life and death, no day and night or space and air, there was only That One breathing airless of its own accord (*ānīd avāt ü svadh yā*). It was profound, unfathomable Potency (*mbhas.... gah naü gabhīr ü*), the first stanza states; and this was enveloped in darkness *t mas* yet had *salil m* 'fluctuating energy' without any 'distinct form' *apraket* ; from it arose "what becomes/evolves (*ābhu-*)" which was 'covered over by void' *tuchyéna-ābhú-pihítam*! From That arose by the 'power of transformation' *t pas* 'that which-becomes' *ābhú* and upon that evolved 'desire/love/will' *kā́ma*; described as 'the first seed/flow of mind' *m naso rétaḥ pratham m*. But here we should note also the pun involving the dhātu vprath 'spreading, extending out, being known, proclaimed'. The implication is that this seed will expand and be known as the creative process and its creation. Indeed, in stanzas 5 and 6 other forces appear and the gods and the 'outpoured creation' iy ü vísṛṣṭiḥ. However, the rishi who envisioned (or "heard") this evolution is humble enough to acknowledge that he does not really know 'whence arose this ray of creation' *kúta ā́jātā iy ü vísṛṣṭiḥ*. The gods would not know either since they arose afterwards *arvā́k*. Even 'the supervisor of this creation who is in highest heaven' *asy - dhyakṣaḥ paramé vyoman* probably does not know the beginning and the exact procedure!

This hymn contains also an esoteric message. The divinities may not know precisely the beginning in its totality, even the highest among them. But stanza 4 says unequivocally that 'the wise poets seeking in their heart with understanding discovered the bond/connection of the existent in the non-existent' *sató b ndhum sati níravindan, hṛdí pratíṣya kav yo manīṣā́*. Here, the implication is that man (puruṣa), being a reflection of the One primordial Puruṣa, who, in that other description, becomes the multiplicity of the universe, can look into the heart of his mind and there, by returning to the beginning, discover the truth of the primordial being.

This hymn does not elaborate and explain the method and practices required for this internal investigation, this self-examination. But other hymns refer to it sporadically. Some describe the realisation of the truth quite explicitly if briefly. This is clearly evidenced by seer Kaṇva's second birth in 8.6.10: "Having received from my father the essential knowledge *medhā́* of the Cosmic Order *ṛt* , I was [re-]born like the sungod Sūrya?. Elsewhere, this brilliant effulgence was discovered through "medi-

tation/reflection": the sages 'found the expansive light while intensely meditating' *urú jyótir vividur dídhyānāḥ*.

Undoubtedly the larger part of the hymns in the RV offers devotional praises, worship and invocations for help to the various gods. Many hymns or parts of them, too, concern the sacrificial ritual. In those days, the vast majority of the people were absorbed in these religious practices, as in our days the common interest is with similar concerns though many more would be irreligious and atheists. But, obviously, on the evidence of many hymns and parts of others, like the ones we examined, some circles or families or sages followed philosophical or esoteric teachings and practices that later came to be formulated in the Upanishads, the Yogasūtras, the Vedanta etc.

4. In our days this aspect of the RV is almost wholly ignored by scholars who prefer to interpret everything in relation to the sacrificial ritual and "primitive" religion - whatever they understand by this term. Notable exceptions to the general academic rule are Jeanine Miller, D. Frawley and K. Werner in the West. There may be some few more whom I do not know, but these scholars certainly explored the themes I adumbrated in 1-3. Otherwise modern scholars are still by and large under the spell of Sāyana, the medieval scholiast whose tradition saw the RV as a text for liturgy and ritual.

Since the early 1800's Western scholarship and most of Indian academia, which has been heavily influenced by the West, imported to the study of the RV and even the subsequent wider Indic culture, often unconsciously, the political, ethnic, religious and scientific notions prevalent in different periods: European supremacy, the christian missionary zeal, British colonial political and economic concerns, the theory of evolution, psychology in various new-fangled forms, anthropological views formed from superficial studies (equally prejudiced) of so-called "primitive" peoples, materialism, communism and whatever else. Thus one comes across polytheism, of course, fetishism, evolving religious ideas and forms, deities and demons representing forces of nature, theriomorphism and anthropomorphism and "arrested" or "opportunist anthropomorphism" (Hiriyanna 33,39) animism, pantheism and the like. Most of these views are mentioned by that excellent vedist, A.B. Keith in the first seven chapters of his classic study, *The Religion and Philosophy of the Veda and the Upanishads* (1925). In the mid-twentieth century some new views appeared about the rigvedic gods: psychosomatic or spiri-

tual forces within man (Shri Aurobindo 1956, Coomaraswami 1942, Frawley 1991, Kak 2002), and more recently forces of Thermonuclear Physics (e.g. Rajaram 1999 and several others).

The translations of the RV are so far all inadequate: in English R. T. Griffith, in French L. Renou, in German K.F. Geldner. There has been one in Russian by (Mrs) T. Elizarenkova based on Geldner. In 2014 came out at last the most recent one in English by Americans (Mrs) S. W. Jamison and J. P. Brereton and, frankly, I would not recommend it; Griffith's version, despite its Victorian diction and attitude, seems far closer to the original spirit of the RV than this concoction.

I shall not deal with all these issues and the translations. It is not worth our time and my effort. I shall deal only with this latest version of American scholarship and briefly at that.

5. For reasons unknown but easily understood, translators seem to feel the need to provide something original, something "their very own" often at the cost of a far better past translation. And this is what repeatedly happens here with Jamison and Brereton. I shall take only the first three stanzas and glance at A. A. Macdonell's almost literal translation from his *Vedic Reader* (1917) and W.O' Flaherty, then Brereton and Jamison. The Vedic text reads: -

1. *nā́sad āsīn nó s d āsīt tadā́nim; nā́sid r jo nó vyomā paró y t;*
kim ā́varivaḥ, kúha, k sya ś rmann; mbhaḥ kím āsīd g hanaü gabhīr m.

2. *n mṛtyúr āsīd, amṛtaü n t rhi, na rā́rtryā hna āsīt prakét ḥ;*
ā́nīd avāt ü svadh yā t d ékam; t smād dhāny n n par ḥ kiü canā́sa.

3. *t ma āsīt t masī gūḷh m gre; apraket ü salil ü s rvam ā id m;*
tuchyéna ābhú pihitaü y d ā́sīt, t pasas t n mahinā́jāyataíkam.

The first difficulty is *tadā́nim* in 1a. It is translated by all as 'then' or 'at that time', a temporal adverb. But it is also spatial and conditional (thereat, at that level) since it is correlative of *y d* and *y tra*. The same holds for *t rhi* in 2a. Again all translate 'then' but this too is correlative of *y tra* and *y rhi* and has also the sense 'in that case'. The common thinking is past tense. But both adverbs could be referring to a higher lever of being/existence/substance, not only past time. So they could also mean 'at that level, in that circumstance/instance'.

Then MacDonell translates 1c "What did it contain? Where? In whose protection?" He explains *ā́ varivaḥ* as 3rd person singular, imperfect intensive of ā + *vvṛ* 'covering', where the prefix ā expands, intensifies and strengthens the main verb. (Mrs) Wendy O' Flaherty translates the same as 'What stirred? Where? In whose protection?" She explains that the verb often describes breathing (1981: 27-8). Jamison and Brereton translate similarly 'What moved back and forth? From where and in whose protection?" This last one is very problematic because there is no existing body to move and, no space in which to move; then, why would it need protection and by what/whom? The preposition a also reverses the meaning of the verb as with *ā-gam* = come, *ā-dā* = receive. In this case here the sense would be 'reveal' but this would be illogical in the circumstances, since no revelation follows. So we must take it as intensifying the basic meaning.

I assume that sage Prajāpati Parameṣṭhin was inspired and wise, not retarded or irrational. So he says "Thereat" *tadā́nim*, in the beginning, before space, horizontal time and vertical being, before intelligence and substance, came to be, there was absolutely nothing. "How come?" ask we, who see all too clearly and solidly and colourfully this world. "What veiled, covered and concealed existence and space? Where? In the shelter of what/whom?" This seems to me to be the import.

Then, since there was absolutely nothing in existence, it is not likely that the seer would have wondered if in the beginning there was "water deep and profound" or "profound depth". Modern scholars do so (MacDonell, O' Flaherty and the recent two) because they cannot go beyond their prejudices. They assume, probably, that because Mesopotamian, Egyptian and some Greek traditions postulated "water" as the primary source whence all else arose, the Vedic rishis thought so as well. Of course, *mbhas* and its cognates *abhr* 'cloud, rain', *mbu* 'water', all relate to water. But *mbhas* means also 'fecundity, potential power' (so also Mayrhofer 1957-96). So our seer asks "Was it profound, unfathomable Potency (=potential, power)?" And he leaves the reply "Yes" hanging before us as the only probability!

The same difficulty is met in stanza 3 where salilám is translated by everybody as 'water/ocean'. But since Parameṣṭhin was not an imbecile who grossly contradicts himself, we must assume that it is not 'water/ocean'. Here it is the translators who contradict themselves. Because here the text is *apraket m salil m* 'undistinguished/non-distinct/signless ocean'

which is really a bit non-sensical. Now, we know that *salil* comes from *sal-/sar-/ vsṛ > sarate, sisarti*. In the Dhātupāṭha the meaning for this is given as *gatau* 'motion, going'. It is a thoroughbred Indo-european dhātu with cognates in Greek *hallomai*, Latin *salire* and Tocharian *salate* all meaning 'leaping, rushing on'. So, not surprisingly one primary meaning of *salil* is 'fluctuating, surging', then 'flood, surge'. When we say 'water', we cut out the "surging, rushing, fluctuation'.

Now then, if nothing existed except That One which breathed and was pure Potency, the only *apraket ü salil m* in st 3b would be imperceptible 'fluctuating energy', which by the will *svadh yā* of That One would generate the creation. That it was not water is indicated most clearly by the first pāda which states - "darkness was enveloped by darkness in the beginning". And the third pāda reinforces the imperceptibility and non-materiality of *salil* by describing it as *pihitam* 'covered over' *ābhú* 'what-comes-to-exist' by 'vacuity/void' *tuchyéna*. Surely vacuity could not possibly overlie or conceal "ocean/water"!

Such translations seem to be absurdly unreasonable.

6. However, the contradictions do not end here. Jamison and Brereton accept in their introductory comments that there is "That One" and that *ābhú* is 'coming into being'. It has no substance, they say, but 'it is beginning to have shape, since there is something that is "covered" by something'. And by a reference to Thieme (1964: 66-67) they agree that æit is the shape of an egg' and that this ôwas bornö or hatched by heat. And a little further down commenting on stanza 4, they explain 'Here the key is the revelation that thought is the One, which is the ultimate source of creation' (2014: 1608).

Please note all the disparate, incompatible and contradictory notions contained in the thinking of the two scholars: that One (st 2c), which could be water (st 1d) and is definitely ocean (st 3b), but takes the shape of an egg, finally turns out to be thought (st 4ab).

They translate 4ab *kā́mas t d gre s mavartatādhi, m naso rétaḥ pratham ü y d ā́sāt* 'Then, in the beginning, from thought there evolved desire, which existed as the primal semen'. And, hereafter, in stanza 5, we have sexual notions about male and female and the mahimā́naḥ which is rendered as 'greatnesses' is (in the introduction) turned into "pregnancies". I do agree that stanza 5 introduces active forces (=*retodhāḥ* 'seed-giving') and passive powers (*mahimā́naḥ*) and thereafter follow the re-

sults of creation. But to have "thought" one needs the organ or means which produces it and this appears only in stanza 4 as *m nas* ‘mind’. And it is desire that breeds thinking and thought, not the other way round.

Certainly *rétas* means ‘semen/sperm’ and so it should be translated in *reto-dhā́* in stanza 5. But semen is too gross to apply (except as metaphor) at the level indicated in stanza 4. The svadhā́ of st 2 ‘accord, self-power, nature’ appears in st 4 as *kā́mas* ‘desire, love, will’ and this generates the rest, again through *t pas* (st 3d).

This word *t pas* which is translated as ‘heat’ deserves a note too. Heat also could not have existed before *ābhú*: it is too gross. But the dhātu *tap* has also the meaning *aiśvarye* ‘supreme power/will’, the power of *īśvara* which rules, commands and makes changes. When yogis or people practise *tapas* or, as is said ‘austerity’, religious or spiritual, they bring about transformations in their inner nature, desires, habits, powers, thinking. So *t pas* is really ‘the power of transformation’, which may be some kind of heat/warmth but not of our common material world. Inner change is effected not only with mortification and suffering but also with happiness and joy.

7. This hymn 10.129 describes the different stages and levels of creation. It could well have formed the basis, the first sperm, for the later development of the Sāṅkhya system, as MacDonell says (1917: 207).

Here we have That One which alone is, without form or other quality. It breathes (metaphorically) of its own accord, with self-power; and, presumably, its exhalation is the emergence of creation at all its different levels with all its different phenomena, and its inhalation is the re-absorption of all that.

There is absolutely nothing in the first three stanzas with which we are accustomed in our existence in the gross world we know. There is darkness and void and only the Potency to generate the creation - immense, unfathomable. By its own power of transformation arises that-which-evolves out of undifferentiated energy. And then desire arises and mind and all the other forces and elements.

This process naturally could not be observed in the evolution of the world outside and around us. It could only be observed in the world within one’s consciousness.

But the poet warns us that the absolute beginning is not really seen or known, not even by the Overseer in the uppermost heaven!

Bibliography

Aurobindo Shri - 1956 On the Veda and The Secret of the Veda (both originally articles 1914-20 in the Journal Arya), Pondicherry.

Coomaraswamy A. K. - 1942 "Atmayajna: Selfsacrifice" Harvard Journal of Asian Studies.

Frawley D. - 1992 Wisdom of the Ancient Seers Salt Lake City, Passage Press.

Hiriyanna M. - 1932 Outlines of Indian Philosophy (1944) Delhi, Motilal Banarsidass.

Jamison Stephanie & Brereton J. P. - 2014 The Rigveda Oxford, OUP.

Kak S. - 2002 - The Gods Within Delhi, M. Manoharlal.

Keith A. B. - 1925 The Religion and Philosophy of the Vedas and Upanishads (1989) Delhi, MB

Mac Donell A.J. - 1917 A Vedic Reader for Students (1972) Oxford, OUP.

Mac Eviley T. - 2002 The Shape of Ancient Thought New York, Allworth Press.

Mayrhofer M. - 1957-1996 Kurtgefastes (KEWA) and Etymologisches WṆrterbuches Altindischen (EWA) Heidelberg, C. Winter.

Miller Jeanine - 1985 The Vision of Cosmic Order London, Routledge & Kegan Paul. 1974 - The Vedas : Harmony, Meditation and Fulfilment London, Rider.

O' Flaherty Wendy - 1981 The RigVeda London, Penguin Classics.

Rajaram M. R. - 1999 Vedic Physicsà Toronto, Golden Egg Publishers.

Thiṝme P. - 1964 Gedichte aus dem Rigveda aus dem Sanskrit Übertragen und erläutert, Stuttgart.

✦✦✦

Influence of Puraṇas on the Subsequent Yogic Literature

-Dr. Indulata Das
Academy of Yoga and Oriental Studies
Forest Park , Bhubaneswar

Puraṇas are the rich repositories of almost all the branches of Indian wisdom. Rightly it has been acclaimed as the essence of all Vidyas:

(विद्यासारं पुराणम्)[1]

Like various other branches of knowledge, the Yogic wisdom is also stored in plenty in the Puraṇas. The storage of Yogic knowledge in the Puraṇas is so profound and authentic that the vast Yogic literature written posterior to the Puraṇas were greatly influenced by the same. Especially the commentary literatures of the Yoga and mainly those which are written on the Yoga Sutra have been deeply indebted to the Puraṇas. In most of the important commentaries of the Yogasutra the commentators have taken the help of the Puraṇas to explain, clarify and elaborate the intricate aphorisms of the Yogasutra. In other words the Yogic explanations of the Patanjala Yogasutra are highly influenced by the Puraṇas. Not only this, the Hathayoga literature is found to be considerably influenced by the Puraṇas too.

Following are some examples of the indebtedness of the Yogic literature to the Puraṇas.

Influence of Puraṇas in explaining the Sutras:

The aphorisms of Yogasutra are extremely brief in nature. In fact brevity is the very essential characteristic of Sutra literature. The definition of Sutra is

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

---

1. Agni Puraṇa -1.1.13

(The sutra is a sentence constituted of minimum possible words, is so explicit that it leaves no scope for any doubt in conveying the meaning, is complete in expression, is unobstructed and does not leave any scope for criticism.)

Thus Sutras are written with the help of minimum words. Therefore they often require elaborate explanations. And while explaining the Yogasutra of Patanjali the commentators have invariably taken the help of the Puraṇas.

For example the discussion about the Sutra 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (Yoga Sutra 1.28) may be taken into account. It is a Sutra which is written in context of Iswara. The present Sutra directs about the method of Iswarapranidhana. Iswarapranidhana is done by the recitation of Om and contemplating on the meaning thereof i.e. Iswara.

Vyasa, the first commentator of the book, while explaining this Sutra writes:

प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते, तथा चोक्तं

स्वाध्यायात् योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।। इति[1]

(One should practice Yoga (meditation) after the Swadhyaya and do Swadhyaya after the meditation. The Paramatma gets illuminated by enriched Swadhyaya and Yoga.)

The above mentioned Sloka is from the Visnu Puraṇa[2] which has been quoted by Vyasa in support of his statement.

In order to justify as well as elaborate this commentary of Vyasa the Patanjala Rahasya, a commentary by Sri Raghavananda Saraswati has taken resort to another sloka which is again from the Puraṇa (Agni Puraṇa) :

जपश्रान्तः शिवं ध्यायेत् ध्यानश्रान्तः शिवं जपेत्।
जपध्यानसमायुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति।। इत्यग्निपुराणवचनम्।।[3]

(When one is tired of Japa, he should meditate on Lord Siva. When he is tired of meditation, he should resume Japa.)

---

1. Vyasa Bhasya (Yoga Sutra 1.28)
2. Visnu Puraṇa 6.6.2
3. Patanjala Rahasyam - Y.S 1.28

Vijnanabhiksu, while commenting on the same explanation of Vyasa has quoted as many as 18 slokas in support of his argument. And all the slokas are also from the Puraṇa (Linga Puraṇa)[1]. Only one Sloka from the bulk is quoted here as an example:

प्रणवो वाचकस्तस्य शिवस्य परमात्मनः।
शिवरुद्रादिशब्दानां प्रणवो हि परः स्मृतः॥ (Linga Puraṇam)[2]

(Omkara is the expression word of Lord Siva. Omkara is the best among names like Siva and Rudra etc.)

It is very significant to note here that Vyasa Bhasya is a commentary written on the Patanjala Sutra. Yoga Vartika is the commentary written on the commentary on the Vyasa Bhasya. And Patanjala Rahasya is a commentary written on the Tattvavaisaradi, which is the commentary on Vyasa Bhasya. So Puraṇas have influenced the first line, the second line and the third line commentators of the Yoga Sutra.

Another example:

Another example of influence of Puraṇas in clarifying the Sutras is as the following:

In order to explain Pranayama Patanjali writes:

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।[3]

Vijnanabhiksu, in explaining the commentary writes: स तु प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिः स्तम्भवृत्तिरिति त्रिविधः रेचकपूरककुम्भकभेदात् । तदुक्तं विष्णुपुराणे–

परस्परेणाभिभवं प्राणापानौ यदानिलौ।
कुरुतः स द्विधा तेन तृतीयः संयमात्तयोः॥[4]

(Pranayama is of three types. The first two Pranayamas are those when the Prana and Apana overpower each other. The third is the one when the two airs are controlled.)

Here Vijnanabhiksu has taken the help of Purnanas again to explain the conceptual meaning of the Pranayamas.

---

1. लिङ्गपुराणे स्पष्टं प्रदर्शितं यथा (Yoga Vartika, Y.S.1.28)
2. Yoga Vartika (Y.S.1.28)
3. Yoga Sutra 2.50
4. Yoga Vartika (Yoga Sutra 2.50)

Now in the Sutra there is the mention of lengthening or shortening the Pranayama by the help of a few facts of which one is Sankhya or number (देशकालसंख्याभिः).

While explaining 'Sankhya' again Vijnanabhiksu takes the help of the Puraṇa. He writes:

संख्यार्थ मात्रा च मार्कण्डेयप्रोक्ता –

निमेषोन्मेषेण मात्रा कालो लघ्वक्षरं तथा।
प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादशमात्रिकः॥[1]

Here Vijnanabhiksu quotes the Markandeya Puraṇa in order to explain the use of Matra for counting the length of the Pranayama.

Likewise there are many examples where the commentators have resorted to the Puranic descriptions to explain the Sutras of Patanjali.

Influence of Puraṇas in further ramifying the concepts

In many places the Sutras have merely given the definition of the concepts. No further details or ramifications have been provided to it. But the commentators have given many more details, divisions and subdivisions to make the concept clearer and comprehensive. And the Puraṇas have greatly contributed in doing so.

For example in the Yogasutra there is only one Sutra for Dharana:

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (Yogasutra 3.1)

(Holding the mind at a particular point is Dharana.)

No further description of Dharana is found in the Yoga Sutra. But the commentators have provided a lot of informations which they have borrowed from the Puraṇas. Following are some examples.

Vachaspati Mishra while discussing Dharana has first explained the justification of placing Dharana after Pranayama and Pratyahara. For this he quotes the Puraṇa (अत्रापि पुराणम्):

प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्यात् चित्तस्थानं शुभाश्रये॥[2]

(After controlling the air by Pranayama and controlling the Indriyas by Pratyahara one should fix the mind on a sacred point.)

---

1. Markandeya Puraṇa 36.15
2. Tattvavaisaradi (Yoga Sutra 2.1)

It means the Yogi should first control the air in the body by the practice of Pranayama. Then he should proceed to control the Indriyas which are more powerful than the air. For controlling the Indriyas he has to practice Pratyahara. After controlling the same the Yogi should proceed further to practice control over the mind which is more powerful than the Indriyas. For controlling the mind the practitioner has to proceed phase after phase. In the beginning he has to fix the mind on some sacred point (शुभाश्रये). This practice is called Dharana.

Then while explaining what a sacred point or शुभाश्रय means Vachaspati Mishra again writes: शुभाश्रयाः - बाह्या हिरण्यगर्भवासवप्रजापतिप्रभृतयः (External sacred points are the Hiranyagarbha, Indra, Prajapati etc.)

इदं च तत्रोक्तम् (It is said in the same Puraṇa)[1]-

मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिःस्पृहम्।
एषा वा धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते।।

(Having detached the mind from all other supports one should concentrate on any form of the Lord. This is called Dharana because mind is held on it.)

Vyasa, while commenting the Sutra on Dharana writes:

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा[2]

Although Vyasa has not mentioned the name of any Puraṇa yet his description is greatly influenced by the Puranic writing which are to be discussed here. These places for Dharana have been listed in more than one Puraṇa.[3]

Vijnanabhiksu, while describing Dharana has given a list of points where mind could be fixed. And he does it by quoting the Kurma Puraṇa (Iswara Gita)

हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वसु मस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्।।[4]

---

1. Ibid
2. Vyasa Bhasya (Yoga Sutra 3.1)
3. In Kurma Puraṇa (Uttarardha ch.11) and Markandeaya Puraṇa (36.45)
4. Kurma Puraṇa Iswaragita (Uttarardha 11.39)

(Binding the mind in places like the heart-lotus, navel, crown of the head or even on the joints of the body is Dharana.)

After suggesting specific spots for Dharana Vijnanabhiksu then divides Dharana into ten classes. Again for the same he takes the help of Puraṇa (Garuda Puraṇa). He writes: आदिशब्देन गारुडाद्युक्तदेशान्तराणि ग्राह्याणि। तथा गारुडे –

> **प्राङ्नाभ्यां हृदये वाथ तृतीये च तथोरसि।**
> **कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु।**
> **किंचित् तस्मात् परस्मिंश्च धारणा दश कीर्तिताः।**[1]

(Holding the mind on the navel first, then on the heart, on the chest, on the throat, on the mouth, on the tip of the nose, on the eyes, between the eyebrows, on the head and a little above that are the ten Dharanas.)

Another example of ramifications:

The Yoga Sutra mentions the name Avidya while enumerating the names of the Kleshas:

> **अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।**[2]

(Avidya, Asmita, Raga, Dwesa and Abhinivesa are the five Klesas.)

Then the Avidya is defined as अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या[3]।

The Sutra does not further classify the Avidya or write anything about the parts of Avidya. But the Patanjala Rahasya quotes the Puraṇa and further classifies Avidya:

> **तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।**
> **अविद्या पञ्चपर्वा सा प्रादुर्भूता महात्मनः।।**[4]

This very Sloka is also quoted in many places by the author of Yoga Vartika.

Influence of Puraṇas on other Yogic literature:

Influence of Puranas is not limited to the commentary literature

---

1. Garuda Puraṇa Achara Kanda 226.21
2. Yogasutra 2 . 3
3. Yoga Sutra 2. 5
4. Visnupurana 1.5.5

only. It has also been widely extended to the original Yogic texts authored in the subsequent years. For example the following may be compared:

In the Iswara Gita (Kurma Puraṇa Uttarardha 11th chapter) a detailed description of a suitable place for the Yogi is found which is as the following:

सुगुप्ते सुशुभे देशे गुहायां पर्वतस्य तु।
नद्यास्तीरे पुण्यदेशे देवतायतने तथा।।
गृहे वा सुशुभे रम्ये विजने जन्तुवर्जिते।
युञ्जीत योगी सततमात्मानं मत्परायणः।।[1]

Swatmarama Yogi also gives a detailed description of an ideal place for the Yogi[2]. His description may be compared to the description of the Kurma Puraṇa.

The Kurma Puraṇa writes:

सुगुप्ते सुशुभे देशे[3]

(The Yogi should practice Yoga in a place which is protected and sacred)

Swatmarama Swami writes: सुराज्ये धार्मिके देशे[4]

(A place protected by good governance and sacred)

The Kurma Puraṇa writes:

जन्तुवर्जिते[5]

(The place should be devoid of creatures)

Swatmarama Swami writes: निःशेषजन्तूज्झितम्[6]

(The place should be devoid of creatures)

The Kurma Puraṇa writes:

गृहे वा सुशुभे रम्ये विजने......युञ्जीत योगी[7]

(The Yogi should practice Yoga in a lonely pleasant house)

---

1. Kurmapurana Uttarardha 11.50-51
2. Hathayogapradipika 1.12
3. Kurmapurana Uttarardha 11.50.0
4. Ibid
4. Kuramapurana Uttarardha 11.51
6. Hathayogapradipika 1.13
7. Kuramapurana Uttarardha 11.51

Swatmarama Swami writes

एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना।[1]

(The Hathayogi should remain in a lonely monastery)

Other Hathayogic texts like the Sivasamhita and Gheranda Samhita may also be said to be influenced and guided by the Puraṇas.

Thus the Puraṇas have contributed a lot in enriching the Yogic literature. Without the contributions of the Puraṇas the Yogic literature would not have been so rich as it is found today.

Bibliography

1. Agnipurana: Published by Nag Publishers11A/U.A, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1985
1. Garudapuranam: Nag Publishers 11/A/U.A, Jawaharnagar, Delhi-7, 1984
2. Kurma Puraṇa: Kurma Puraṇa: Published by Geeta Press, Gorakhpur, First Edition, Samvat 2061
3. Markandeya Puraṇa: Published by Rastriya Sanskrit Sansthan, 56-57 Institutional Area, Janak Puri, New Delhi, 2002
4. Visnupurana, Gitapress, Gorakhpur, Samvat-2054
5. Yogasutra: by Patanjali, Gitapress,Gorakhpur, Samvat -2050
6. Sankhyayogadarsanam (With Vyasa Bhasya, Tattva Vaisaradi Tika, Yoga Vartika, Patanjala Rahasyam) , Edited by Sri Goswami Damodarasastri, Chaukhambha Sanskrit Sansthan Varanasi, 1989
7. Hathapradipika: by Swatmarama Swami, Swami Digambaraji, Kaivalyadhama, S.M.Y.M, Samiti, Lonavala, Pune, 1998

✦✦✦

1. Hathayogapradipika 1.13

गतांक से आगे–

List of Researches On Vedic Subjects Conducted by Different Universities/Institutions

S.No.	Name of Research Scholar	Tiltle of the Thesis	Name of University/Institution	Year
105.	श्री अमृत माधव घाटगे	The Origin and Development of the casual forms in Indo-Aryans Languages form Veda to Modern Times	मुम्बई विश्व विद्यालय मुम्बई	1940
106.	श्री कैलाश नाथ भटनागर	A Critical Edition of the Nidana Sutras of the Sam Veda with and Introduction and a Fragment of the Commentary named Tattva Subodhani.	पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़	1941
107.	श्री हेमन्त रामकृष्ण कार्णिक	Morals in the Brahmanas as Constructed from the Morla Legends occuring there in.	मुम्बई विश्वविद्यालय मुम्बई	1942
108.	श्री फतेह सिंह	The Vedic Quest in the Mysteries of Vāc	बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (बी.एच.यू.)	1944
109.	श्री शिवराम अनन्त शुक्ला	A Study of the Ṛgveda. Mantras in all the Extent Gṛahsutra as Repeated in Entirely or Partially far for purpose of Litergiecal Employment in the whole range of Vedic Literature from the View point of their contextual Evolution and Viniyoga Vikas.	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1944
110.	श्री पल्लई पुत्तिल्लाथ नारायण	Non-Rgvedic Mantras Subricated in the Vivaha Samskara chapter in Extent Gṛhasūtras. Their interpretation and a study of their sources, Variants and Viniyoga in Vedic Literature	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1945

111.	श्री वेंकटेश्वरन छलेका सशे अइयर	Rgvedic Words Etymologically Equated in Pre-Nirukta Vedic Literature.	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1946
112.	श्री हरियप्पा लक्ष्मीनर सिंह शास्त्री	Ṛgveda Legends Through the Ages, Being a Historical Study of the Legends of Ṛgveda and the Transformation which they have undergone in the strotras of Sanskrit Literature.	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1947
113.	श्री रामचन्द्र शर्मा	Mythological Conception of Apah (waters) in the Vedic Literature.	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1948
114.	श्री कर्मवेलकर विनायक	The Place Atharvavedic Civilization in Indo-Aryan Culture.	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1949
115.	श्री गोविन्द मुखर्जी	The Absolute and Its Realisation According to the Upnisadas.	कलकत्ता विश्वविद्यालय कलकत्ता	1950
116.	श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री	A Literary Study of Ṛgveda or Rgvedic Aestheties	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1951
117.	श्री परब भिवाजी अर्जुन	The Miraculous and Mysterious in the Vedic Literature	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1952
118.	श्री गजानन मड़ेश्वर पाटिल	Soma in Vedic Sacrifices	मुम्बई विश्वविद्यालय मुम्बई	1952
119.	श्री एस.आर. सेंगर	Comparative Study of the Mantras of the Ṛgvedic Gṛhasutra i.e. Asvalayana Grhasutra with a critical Introduction.	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1953
120.	श्री गणेश हरि गोडबोले	Indra in the Past Ṛgvedic Literature. An Examination of Sources of Indra's Degradation as it appears in Purana.	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1954
121.	श्री राम नरायन रवी	Ṛsi of Ṛgveda Samhita	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1954

122.	श्री अनन्त महेश्वर करडिंकर	Ṛg Veda Mantras in their Ritual setting in the Aitareya Brahman	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1954
123.	श्री गोपाल राम	A Pictuire of Indian Society as Depicted in Grha-Sutra	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1954
124.	श्री प्रभा बलवन्त जोशी	The Enemy and the Inimical in the Ṛg-Veda or the Non-Aryan Elements in the Ṛg-Veda	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1955
125.	श्री विपनचन्द कपाड़िया	Soma in ṚgVeda	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1955
126.	श्री यू.जी. राहुरकर	Seers of the ṚgVeda	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1955
127.	श्री संकठा प्रसाद सिंह	The Revival of Upanisadic thoughts in contemporary Indian Philosophy	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1955
128.	श्री कृष्णा जी पेटेडर	Sacrifice in Rg-Veda	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1956
129.	श्री सन्त शर्मा तिवारी	मन्त्र एवं ब्राह्मण की ऐश्वर्य प्रक्रिया : तुलनात्मक विवेचन	काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी	1956
130.	तिलोत्तमा देसाई	A Critical edition of Arseyakalp and Arasyakalp Vyākhyā	बी.एच.यू. वाराणसी	1956
131.	श्री सुधीर कुमार गुप्ता	वेदभाष्य पद्धति को स्वामी दयानन्द सरस्वती की देन	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1956
132.	श्री विमल चन्द महाचार्य	Rg-Veda Mantras : Their Original purpose and Later Application	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1957
133.	श्री रामजी उपाध्याय	The Critical Edition of Anantācharya's Commentry on Kāṇva Samhita of the Śukla-Yajurveda	बी.एच.यू., वाराणसी	1957
134.	श्री एम.डी. तिवारी	A Literary Study of the Atharvaveda	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1957

135.	श्री पुरुषोत्तम नवाथे	Language of the Srauta Sutra with Social Reference to Apastamba Srauta Sutra and Asvalayana Srauta Sutra	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1957
136.	श्री परमानन्द	Ṛg-Veda Ādi Bhāsya Bhumika of Swami Daya Nand Saraswati : Translation into English from theoriginal sanskrit with critical Introduction and Notes	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1957
137.	श्री लीना चन्द्रकान्त नायक	Ṛg-Veda Mantras in Taittiriya Samhita. Their settings old and new.	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1958
138.	श्री शिवराय	ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1958
139.	श्री चिदम्बर देशपाण्डे	The Interpretation of the Third Mandal of Ṛg-Veda	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	1958
140.	श्री सत्यस्वरूप मिश्रा	Comments of Ubbata and Mahidhar on the Madhya-nandina Samhita	बी.एच.यू.	1958
141.	श्री पद्मनाभ तपीशंकर दवे	Pitr worship in the Vedic Literature	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1959
142.	इन्दुमती नारकर डीके	The Early Beginning of Politics in Ṛg-Veda	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1959
143.	श्री बालचन्द्र रघुनाथ मोधक	Studies of the Ancillary Literature of Ath-Ved with special References to the Parisista	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1959
144.	श्री विष्णु देव शर्मा	ऋग्वेद कालीन मानवों का आचार	सागर विश्वविद्यालय, सागर	1960
145.	श्री रामप्रसाद शर्मा	उपनिषदों तथा हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा का तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1960

146.	श्री ग्यानी साहनी	Goddesses in Ṛg-Veda	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1961
147.	श्री नरायन जगन्नाथ शिन्दे	Religion, Philosophy and Foundations of the Atharveda's Religion	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1961
148.	निर्मला भार्गव	वैदिक साहित्य एवं संस्कृति में भृगु ऋषियों की देन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1962
149	पुष्पावती	The Methods of the Interpretation of the Veda	बी.एच.यू., वाराणसी	1962
150.	श्री गंगासागर राय	Study of Vedic Sutras	बी.एच.यू., वाराणसी	1962
151.	श्री वैजनाथ विश्वनाथ गंगल	Apan in the Ṛg-Veda	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1962
152.	श्री मोती लाल रस्तोगी	A Study of the Ṛg-Veda Pāda Pāth	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1962
153.	श्री लक्ष्मी नारायन शर्मा	Ṛsis of Ṛgveda	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1962
154.	श्री विनायक वामन करमबेलकर	The Atharvaveda and the Ayurveda	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1962
155.	श्री अरुण शकुन्तला चलम आयर	The Myths of the Brahmaṇa of the Sāmveda	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1962
156.	श्री उमेश चन्द्र पाण्डेय	The Legends in the Śatpath Brahmaṇa	बी.एच.यू. वाराणसी	1962
157.	श्री सीताराम गणेश देसाई	A Critical Study of Later Upniṣadas	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1962
158.	शान्ता वर्मा	A Critical Study of the Social and Cultural Data in Early Upnisadas	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1962
159.	श्री मनोहर लाल द्विवेदी	श्रौत सूत्रों का समीक्षात्मक अध्ययन, विशेषतः कात्यायन की यज्ञ पद्धति	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1962
160.	श्री वेद मित्र	Study of Dharma Sutra with Special Reference to the	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1962

		Gautamī Dharma Sutra		
161.	सुकृता एवरोल	Shiv Cult in the Vedic and Puranic Literature	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1963
162.	श्री प्रकाश देव पातञ्जलि	A Critical Study of Rg-Veda (I. 137-163) Particularly from view point of the Panini Grammer	बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा	1963
163.	श्री स्कन्दस्वामी मंजुल पोंतुल	A Study of Ṛg-Veda Bhāsya upto the First Astaka only	विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्ति निकेतन	1963
164.	श्री मंत्रिणी प्रसाद	Languages of Yāska : Stage of Sanskrit Represented in his work of Nirukta	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1963
165.	श्री सूरज पथारिया	A Study of Female Deities in the Veda	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1964
166.	श्री कृष्णलाल शर्मा	वैदिक साहित्य में शकुन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1964
167.	श्री रणवीर सिंह शास्त्री	वैदिक साहित्य में आयुर्वेदिक शब्दावली का अध्ययन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1964
168.	श्री मुरलीधर श्रीनिवास भट्ट	Ṛg-Vidhana : A Study with Speical Texts and Translation	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1964
169.	श्री बृज बिहारी चौबे	Treatment of Nature in the Rg-Veda	बी.एच.यू., वाराणसी	1964
170.	श्री नरायन भट्टाचार्य	अथर्ववेद भारतीय संस्कृति	कलकत्ता वि.वि. कलकत्ता	1964
171.	माया मालवीय	अथर्ववेद शान्ति पुष्टि कर्माणि	वार्ष्णेण विश्वविद्यालय, वाराणसी	1964
172.	श्री नाथू लाल पाठक	ऐतरेय ब्राह्मण : एक अध्ययन	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1964
173.	श्रुति श्री निवास प्रधान	Yaska's Nirukta and Rg-Vedic Interpretation	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1964
174.	श्री विनायक त्रिपाठी	अग्निचयन विमर्श	वार्ष्णेय विश्वविद्यालय, वाराणसी	1964
175.	श्री केशव पाण्डुरंग जोग	Aśvin in the Rg-Veda and their Traces in the Later	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1965

		Literature : A Fresh Analysis of the Asvin Concept		
176.	श्री राधा मोहन मिश्रा	A Critical Study of Devotionalism and Mysticism in the Rg-Veda	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1965
177.	श्री नरेश चन्द्र पाठक	Concept of Yajna in Ṛg-Veda	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1965
178.	श्री बद्री नाथ पंचोली	Concept of Cow in the Ṛg-Veda	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1965
179.	श्री आशाराम त्रिपाठी	A Critical Study of Yajnavalkiya Sobśa Contribution to the Rituals of Some Important Vedic Sacrifices	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1965
180.	श्री कैलाश चन्द्र	आर्य पूजा पद्धति में पितृपूजा की उत्पत्ति और विकास	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1965
181.	श्री कृष्ण लाल	A Critical Study of the Gṛha Mantras with Special Reference to their Ritual Application	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1965
182.	श्री कुवेर नाथ पाठक	कात्यायन श्रौतसूत्रस्य आपस्तम्बबौधायन श्रौतभाष्यम् सह तुलना	वार्ष्णेय वि.वि. वाराणसी	1965
183.	उषा आर्या	A Critical Study of Indra and Varuna in the Vedas, Mahabharat and Principal Puranas	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1966
184.	श्री राममोहन उपाध्याय	The Place of Jyotiṣa in the Vedic Literature	बी.एच.यू. वाराणसी	1966
185.	श्री रामनाथ वेदालंकार	वेदों की वर्णन शैलियाँ	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1966
186.	श्री कमल नारायन वेदालंकार	The Decorative Simile in the Rg-Veda. An Investigation into the Nature of the Vedic Similes	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1966
187.	श्री बलराम पाण्डेय	A Critical Study of the Philosophical Elements in Atharvaveda Saṁhita	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1966

188.	श्री आर.एस. मूर्ति शिवगणेश	A Study of the Important Brāhmanas	मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर	1966
189.	शान्ता वर्मा	A Critical Study of the Social and Cultural Data in Brāhmans	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1966
190.	श्री योगुराज वसु	Ancient Indian civilization as Revealed in the Aitareya Kausitaki, Taittiriya and Śatpatha Brahmaṇas	जाधवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1966
191.	साधना गुप्ता	प्रमुख उपनिषदों में निर्दिष्ट सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन	सागर विश्वविद्यालय, सागर	1966
192.	श्री रामप्रकाश शर्मा	उपनिषद् के प्रमुख भाष्यों का आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1966
193.	श्री उमा गुप्ता	Materialism in Veda	पटना विश्वविद्यालय, पटना	1967
194.	श्री कृष्णा देवी	संहितासु विश्वदेवा	वार्ष्णेय विश्वविद्यालय, वाराणसी	1967
195.	श्री गया चरन त्रिपाठी	वैदिक देव मण्डल का उद्भव और परवर्ती विकास	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1967
196.	श्री उश्व कर्मवेलकर	The Ṛgveda Dialogues : A Study	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1967
197.	श्री सुधारस्तोगी	A Study of Indra-Sukta in Ṛg-veda	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1967
198.	श्री शर्मा निगम	ऋग्वेद में काव्य तत्त्व : संस्कृत अलंकार शास्त्र की दृष्टि से ऋग्वेद का आलोचनात्मक मूल्यांकन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1967
199.	शान्ती सक्सेना	Social and Cultural conditions as Depicted in the Main Upnisadas	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1967
200.	श्री बलदेव राज शर्मा	The Concept of Atman in the Principal Upnisadas	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1967

201.	श्री कमला प्रसाद सिंह	A Critical Study of the Katyayana Srauta Sutra	बी.एच.यू., वाराणसी	1967
202.	श्री भवानी प्रसाद भट्टाचार्य	Studies in the Srauta Sutras of Asvalayana and Apastamba	जाधवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1967
203.	रामा मिश्रा	वैदिक काल में वैवाहिक शास्त्रीय व्यवस्था	वार्ष्णेय विश्वविद्यालय, वाराणसी	1968
204.	श्री धुन्डीराजशिवराम नरबर	The Concept of Devas in Vedic Literature	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1968
205.	श्री शुद्धरथ शुक्ला	A Critical and Comparative Study of Sāyana Bhāsya and Other Interpretations on the RgVeda Mandala-II	सागर विश्वविद्यालय, सागर	1968
206.	वेद कुंमारी	मैत्रायणी संहिता का एक अध्ययन	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1968
207.	श्री केशव प्रसाद मिश्रा	A Comparative Study of Vājasaneyi Samhita and Taittariya Samhita	सागर विश्वविद्यालय, सागर	1968
208.	श्री शिवनाथ चतुर्वेदी	वैदिक साहित्ये मणि मन्त्रौषधिनाम् परिशीलनम्	वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	1969
209.	देवकी झा	वेदों में संग्राम तत्त्व	जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर	1969
210.	श्री रामरू गोपाल राने	Idea and Practices of Sacrifice in the Later Veda and Brahmana	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1969
211.	मंजू सक्सेना	A Critical Study of Viciss intudes in Mythplogical Life of Indra in Vedic and Sanskrit Literature	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1969
212.	श्री शशि शुक्ला	ऋग्वेद के सूर्य सम्बन्धी सूक्ष्म और सूर्यपरक स्तोत्र काव्य	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1969
213.	श्री महेन्द्र कुमार वर्मा	Poetic Beauty of Rg-Veda	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1969
214.	श्री सी.एल. प्रभाकर	शुक्ल यजुर्वेद : एक अध्ययन	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1969

215.	श्री हरी शंकर त्रिपाठी	A Critical Study of Legends in the Satpath Brahmana and Aitareya Brahmana	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1969
216.	श्री एच.सी. पटियाल	Gopatha Brahmana : English Translation with Notes and Introduction	पुणे विश्वविद्यालय पुणे	1969
217.	श्री तुलसी राम शर्मा	Ethical Teachings in the Sactarian Upanisads	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1969
218.	श्री विष्णुदेव त्रिगुनायत	The Philosophy of Life as Depicted in the Upaniṣadas	....	1969
219.	श्री नाथ अंजनि कुमार वेलकर	Upāsanā in the Upaniṣadas	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1969
220.	श्री वी.वी. भीडे	A Critical Study of the Cāturmāsya Sacrifices with Special Reference to the Hiraniyakesi Satyasanda Sraua Sutra	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1969
221.	श्री नन्द किशोर पाण्डेय	गृह्य सूत्राणाम् सामाजिक अनुशीलनम्	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	1969
222.	श्री रघुनाथ एइरी	Concept of Sarswati in Vedic, Puranic and Epic Literature	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1970
223.	श्री अम्वरदास सदाशिव डांगे	Vedic Concept of Field and Devine Fructification	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1970
224.	श्री हरीश चन्द्र	आयु सम्वर्धन : वैदिक संहिताओं के परिपेक्ष्य में	गु.कु.कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1970
225.	श्री कृष्णास्वामी त्रिकर अय्यर	Aśvin in the Vedas	डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय, डिब्रूगढ़	1970
226.	श्री विश्वनाथ मुखर्जी	वैदिक साहित्य में सोम का स्वरूप	वर्दवान विश्वविद्यालय, वर्दवान	1970
227.	श्री मीसे उसा रामचन्द्र	The Relationship between God and Worshipper in the Rg-Veda	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1970

228.	श्रुतिशील	Metaphysical Conceplion in Rg-Veda	बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा	1970
229.	श्री एस.एन. भवसार	Etymology in the Brahmanas	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1970
230.	श्री मोहम्मद अली	Etymologies in Brāhmans	अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़	1970
231.	श्री सुदर्शन कुमार सूद	कौषितकी ब्राह्मण का सांस्कृतिक एवम् ऐतिहासिक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1970
232.	श्री हरी गोविन्द पाण्डेय	Satpatha Brāhmana : A Study	बी.एच.यू. वाराणसी	1970
233.	श्री सुजाता गंगोपाध्याय	Aspects of Upnisadie Thoughts with special Reference to the Minor Upanisadas	जाधवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1970
234.	श्री एच.पी. मालेदेवर	Saivagama and Upnisadas	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	1970
235.	पुष्पा गुलाटी	यास्कीय निरुक्त का सांस्कृतिक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1970
236.	श्री परमेश्वर कुमार ऐथल	Non-ṚgVedic citation in the Aśvalayana Srauta Sūtra : A Study	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	1970
237.	श्री जे.आर. जोशी	Mnior Deities in Vedic Mythology and Ritual	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1971
238.	श्री. यू.सी. शर्मा	The Viśvamitra and the Vasistha : An exhaustive Histarical Study Vedic and Past Vedic	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1971
239.	श्री सत्यपाल	ऋग्वेद में निपात	मेठर विश्वविद्यालय, मेरठ	1971
240.	श्री राम सिंह पाठक	शुक्ल यजुर्वेद पर महीधर, उव्वट और स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्यों का समीक्षात्मक अध्ययन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1971
241.	श्री टी.एन. धर्माधिकारी	Maitrayani Samhita : Its Ritual and Language	पुणे विश्वविद्यालय पुणे	1971
242.	श्री जी.वी. थीटे	Sacrifice in the Brāhmanas Texts	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1971

243.	श्री असित कुमार दत्ता	The Concept of Jiwana Devata in the Tagore's writing in the light of Upanisadas	जाधवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1971
244.	श्री अभय देव शर्मा	हविर्गय : उनकी प्रक्रिया और रहस्य	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1971
245.	श्री एल.के. शर्मा	इन्द्र : वैदिक तथा वैदिकोत्तर साहित्य के परिप्रेक्ष्य में	रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर	1972
246.	श्री कृष्णा केशवानी	काठक संहिता का एक अध्ययन	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1972
247.	श्री उर्मिला देवी शर्मा	शतपथ ब्राह्मण : एक सांस्कृतिक अध्ययन	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1972
248.	श्री काशी नाथ झा	The Concept of Mind as Depicted in Upnisadas	बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर	1972
249	यशोधरा वाधवानी	Eachotology in Indian Philosophical System of - Upnisadas Sources	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1972
250.	सुशीला सिंह	Agnistoma : A Study according to the Srauta Sutra	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1972
251.	श्री शिव प्रसाद शर्मा	यजुर्वेद के गृह्यसूत्रों का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1972
252.	कुसुम लता जैन	A Study of Soma in the Veda, Mahābhārta and Purāṇa	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1973
253.	श्री ओम प्रकाश पाण्डेय	Vedic Khila Hymans : A Study	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1973
254.	श्री पी.एस. पाटनिक्स	Solar Myths and Symbols from the Vedic Literature	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1973
255.	शालिनी रिंग्ले	वैदिक छन्दों का समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1973
256.	श्री डी.वी. क्षीरसागर	Manu in Ṛg-Veda	जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर	1973
257.	श्री महावीर प्रसाद लखारा	Srauta Viniyoga of the Mantras of Ṛg-Veda Samhita	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1973
258.	श्री प्रह्लाद कुमार	Figures of Speech in the Ṛg-Veda	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1973
259.	श्री उमा प्रसाद रस्तोगी	ऋग्वेद की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ एवम् परम्परायें	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1973

260.	श्री गणेश दत्त शर्मा	Philosophical Elements in the Ṛg-Veda	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1973
261.	श्री सत्यप्रिय शास्त्री	Ethical Elements in Ṛg-Veda Samhita	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1973
262.	श्री सुधाकर मालवीय	ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल का समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1973
263.	रीता जैन	ऋग्वेद के दशम मण्डल का सांस्कृतिक अध्ययन	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1973
264.	सुशीला कौशिक	शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता के माध्यन्दिन शाखा का विवेचनात्मक अध्ययन	कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर	1973
265.	श्री नरायन लाल शर्मा	तैत्तिरीय संहिता : एक अध्ययन	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1973
266.	सरज कुमारी खुराना	Figures of Speech in the Atharvaved	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1973
267.	मृदुला मित्तल	अथर्ववेद के वर्ण्य विषय का वैज्ञानिक पर्यवेक्षण	कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर	1973
268.	मिलियन सेन	ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म की विशिष्टता	कलकत्ता वि.वि. कलकत्ता	1973
269.	स्नेह लता पाठक	Critical Study of Different Vidyās in the Principal Upaniśadas	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1973
270.	उर्मिला रस्तोगी	The Ritual of Dasāpūranamāsa	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1973
271.	हेम लता	ऋग्वेद के अग्निसूक्तों की उपमाओं का अध्ययन	भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर	1974
272.	श्री सीताराम केदवर पी.	ऋग्वेद अद्वैतसिद्धान्तानां समीक्षणम्	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि., वाराणसी	1974
273.	श्री विश्वनाथ वामदेव	ऋग्वेदीय पदपाठस्य वेदपाठस्य तुलनात्मक धातुविचारश्च	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि., वाराणसी	1974
274.	मृदुला झा	A Critical and Linguistic Study of the Sāyaṇa Bhāsya on the First Ten Sūktas of the First Mandala of the Ṛg-Veda	बी.एच.यू., वाराणसी	1974

275.	श्री हरदयाल रन्जन शर्मा	ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1974
276.	श्री जयन्तीलाल अमृतलाल भट्ट	Study of Ṛg-Veda Mandal-VIII with Particular Reference to Vasistha	सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट	1974
277.	श्री मनोहर कुलकरणी	Brāhmanic Mythology : A Study based on Six important Brahmanas	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1974
278.	मंजू रस्तोगी	A Study of the Notices of the Seers, Deities and Meters of the Ṛg-Vedic verses in the Brahmanas	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1974
279.	सौभाग्यवती सिंह	ऋग्वेद के ब्राह्मणों के आधार पर वैदिक संस्कृति : एक अध्ययन	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1974
280.	श्री यशवन्त सिंह	A study of the Rajasūya Yajña as found in the Brahmanas	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1974
281.	सीता सिंह	Principles of Etymology in Satpath Brāhmana	बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर	1974
282.	श्री रमाकान्त उपाध्याय	A Critical Study of the Languages of Śatpath Brāhmana	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1974
283.	नर्गिस वर्मा	The Etymologies in the Śatpatha Brāhmana	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1974
284.	श्री कान्ति लाल दवे	उपनिषदों में उपमा	सरदार पटेल वि.वि. बल्लभ विद्यानगर	1974
285.	श्री कृष्ण कुमार धवन	Poetic Elements in the Upniśadas	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1974
286.	श्री एम.एम. वोरा	A Critic of Sankaracharya Interpretatrons of the Upnisadas Texts	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1974
287.	श्री विष्णु भट	A Critical and Comparative Study of the Bṛhadāranyak Upnisad	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1974

288.	श्री व्यास मिश्रा	A Comparative Study of Mahidharā Bhāsya and Niruktā	बी.एच.यू., वाराणसी	1974
289.	शोभा शर्मा	यजुर्वेद के धर्म सूत्रों का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1974
290.	श्री सुशील कुमार पाण्डेय	आपस्तम्ब धर्मसूत्र : एक परिशीलन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1974
291.	श्री वशिष्ठ नारायन झा	A Linguistic Analysis of the Ṛg-Veda Padapatha	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1975
292.	श्री परवेश	Aditya from the Ṛg-Veda to Upnisada	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1975
293.	देबिका चक्रवर्ती	Studies in Some Aspects occultisna in the Atharvaveda	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1975
294.	श्री अमूल्यकर भट्टाचार्य	India in the Age of Aitareya Brāhmana	जाधवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1975
295.	श्री रमेश कुमार लोवे	The Languages of the Taittiriya Brahmana	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1975
296.	श्री आई.सी. देशपाण्डेय	A Critical Study of the Āranyakas	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1975
297.	सुमन शर्मा	A Study of the Aitareya Āranyaka	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1975
298.	श्री त्रिभुवन लाल	Critical Study of Taittiriya Aranyaka	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1975
299.	श्री टी.के जान	The Meaning and Implications of the Upanisadic Rejection of Categories other than Brahma-Atmana	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1975
300.	श्री के.एन. विश्वनाथ आयंगर	A Critical Study in Philosophy Terms in Isavasyo-panisad with reference of Śaṁkara and Ramanuja	दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली	1975
301.	उमा देवी शर्मा	बृहदारण्यकोपनिषद् का आलोचनात्मक अध्ययन : विशेष रूप से तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय	बी.एच.यू., वाराणसी	1975
302.	श्री एस.एम. भक्तवन्दे	A Comparative Study of Chhāndogyopanisad and Brahma Sutra of Bādarāyana	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1975

303.	श्री युगल किशोर मिश्रा	शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1975
304.	श्री अरुण वर्मा	A Critical Study of Bṛhad-Devatā	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1975
305.	उषा मुकंद आप्टे	The Sacrament of Marriage : A Review of Material from Vedic Period to Dharamsāstra	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1976
306.	मृदुला गुप्ता	वैदिक साहित्य : वैज्ञानिक सत्य	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1976
307.	कुसुम लता भटनागर	पुरुष सूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1976
308.	श्री चक्रवर्ती	Folklore in the Ṛg-Veda and the Atharvaveda	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1976
309.	श्री जनार्दन द्विवेदी	शुक्ल यजुर्वेद में जीवन कार्य मीमांसा	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि., वाराणसी	1976
310.	श्री मकेन्द्र नाथ हजारिका	A Socio-Cultural Studies of Satpath Brāhmana	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	1976
311.	नीलम देवी सप्रो	Culture as Depieted in the Āraṇyakas	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1976
312.	श्री सिन्धू भाटवेडेकर	The Upanisadic Theory of Value	बी.एच.यू., वाराणसी	1976
313.	श्री शत्रुघ्न झा	The Impact of Upniṣadas on the Metaphysical thoughts of Kabira	पटना विश्वविद्यालय, पटना	1976
314.	आशा वार्ष्णेय	उपनिषद् वाङ्मय तथा आरण्यकों और वैदिककल्प सूत्रों में वर्णित आचार का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1976
315.	श्री समीरन चन्द्र चक्रवर्ती	The Pribhāsa in the Srauta Sutra : A Study	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1976
316.	श्री शम्भू नाथ	Critical Edition of Kāraka Commentaries of Kātyāyan Śrauta Śūtra	जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू	1976

317.	भारती वरुचा	A Study of the Socio-Religious Ceremony of Upanayana (In Vestiure with Sacred Thread) in the Sūtra and Dharma Śāstra	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	1976
318.	मधुबाला	धर्म सूत्रों और स्मृतियों में ब्राह्मणों की स्थिति	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1976
319.	नयन तारा रस्तोगी	A Comparative Study of Āpastamba and Bodhāyana Dharma Sūtra	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1976
320.	शकुन्तला गुप्ता	शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के गृह्यसूत्रों का तुलनात्मक विवेचन	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1976
321.	श्री दीपक भट्टाचार्या	The Development of Some Important Vedic Legends and Ideas	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1977
322.	दीपाली विश्वास	A Study of Aśvinas in Veda	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1977
323.	शैलजा पाण्डेय	इन्द्र के वैदिक एवं पौराणिक स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
324.	श्री विजय शंकर पाण्डेय	वैदिक ध्वनि विज्ञान	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
325.	श्री रामनिवास	The Aborigines in Ancient Indian Literature with special Reference to the Vedic Literature and epic	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1977
326.	श्री अनन्त शरण तिवारी	Mādhava and Veda - A Study of Dvaita Interpretation of Vedic Myth	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1977
327.	श्री शिवशंकर सिंह यादव	वैदिक सन्धियों का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
328.	श्री मुरलीधर चाँदनीवाला	ऋग्वेद का उपदेश परक स्वरूप : एक अध्ययन	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन	1977

329.	श्री राम मजूमदार	Aśvin in Rg-Veda	सरदार वल्लभ पटेल वि.वि., विद्यानगर	1977
330.	श्री हरी मोहन मिश्रा	ऋग्वेद की उपमाओं का अध्ययन	मिथिला विश्वविद्यालय, मिथिला	1977
331.	श्री कृष्णदत्त मिश्रा	ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
332.	श्री सुरेश प्रकाश पाण्डेय	ऋक् तन्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
333.	श्री उमेश दत्त पाण्डेय	ऋग्वेद का काव्य शास्त्रीय मूल्यांकन	बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर	1977
334.	सरस्वती	A Critical Study of the Legends of Ṛg-Veda	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1977
335.	राधारानी सेन गुप्ता	Linguistic Study of the Forth Mandala of the Ṛg-Veda	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
336.	किरन पाठक	ऋग्वेद का षष्ठ मण्डल : एक समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
337.	शारदा चतुर्वेदी	Linguistic Study of the Seventh Mandala of the Ṛg-Veda	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
338.	कालिंदी राय	ऋग्वेद का नवम मण्डल : समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू. वाराणसी	1977
339.	श्री वीर याजन	A Critical Study of the Atharvaveda with Special Reference of Grammatical Analysis	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1977
340.	रूप कुमारी	Bṛhadārāṇyaka Vartiksāra of Vidyāranya Swāmi	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1977
341.	श्री एन्टोनी एफ.एक्स. रोडिरज्यूर	The Upanisadic Method : A Phonomenological Approach to the Upniṣadas	बी.एच.यू., वाराणसी	1977
342.	वेदवती वैदिक	A Study of the Commentaries of the Śvetaśvetaro-paniṣad	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1977
343.	सुधा अग्रवाल	अथर्ववेद के प्रातिशाख्यों का आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1977

344.	श्री कुमार लाल जैन	कात्यायनआपस्तम्बश्रौतसूत्रयोः तुलनात्मक अध्ययनम्	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1977
345.	सरस्वती वाली	Bṛhaspati in the Veda and Purāna	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1978
346.	मुनुगन्ती कृचाचारुलु	Sāyana and Mādhava Vidyāranya : A Study of their Life and Letters	कनार्टक विश्वविद्यालय, धारवाड़	1978
347.	वीना अरुण लान्धे	Cult and Lore of Vedic Agni	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1978
348.	श्री मुनीश्वर देव	वैदिक साहित्य में प्रजापति	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1978
349.	श्री गिरीश चन्द्र शर्मा	ययाति आख्यान : वैदिक एवं वैदिकोत्तर साहित्य	अलीगढ़ मुस्लिम वि.वि., अलीगढ़	1978
350.	श्री मधुकर भाष्कर वार्नेकर	Vedic Concept of Manas and Purusārtha	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1978
351.	श्री अयोध्या चन्द्रदास	A Critical Study of the Solar Deithes of the Ṛg-Veda in Historical Perspectives	पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला	1978
352.	सुचित्रा मित्र	A Critical Study of the Non-Religious Hymans of the Ṛg-Veda	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	1978
353.	अनीमा पाण्डेय	ऋग्वेद देवता	जाधवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1978
354.	उर्मिला श्रीवास्तव	ऋग्वेद का अष्टम मण्डल : एक भाषिक अध्ययन	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1978
355.	श्री त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा	ऋग्वेद के दशम् मण्डल का समीक्षात्मक अध्ययन	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1978
356.	श्री विधु शेखर पाण्डेय	ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य विशिष्टध्ययनम्	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालय, दरभंगा	1978
357.	श्री गुणाकर पिंपलपुरा	A Critical Study of Anantāchārya's Commentary on Kānva Text of Shukla Yajurveda	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1978

358.	श्री मोतीलाल पुरोहित	अथर्वाङ्गिरसा परम्परा एवं उसमें प्रतिपादित सांस्कृतिक मूल्य	जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर	1978
359.	श्री विनायक राम सत्यचन्द्र	अथर्ववेद राजनीति	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि., वाराणसी	1978
360.	श्री राजश्री रावत	अथर्ववेद में वर्णित ज्योतिष का साहित्यिक अध्ययन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1978
361.	रति सक्सेना	अथर्ववेदीय पदार्थ योजना	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1978
362.	श्री रामनिवास शर्मा	The Religion of Satpatha Braāhmana	सागर विश्वविद्यालय, सागर	1978
363.	श्री राजमंगल मिश्रा	ऐतरेय आरण्यक परिशीलन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1978
364.	श्री राजिन्द्र कुमार त्रिवेदी	मुख्य उपनिषदों में चित्रित समाज एवं संस्कृति	जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर	1978
365.	बी. इन्दुमती	A Study of Aurbindo's Interpretation and Keno-panishad from the Study point of the Adhikara	मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास	1978
366.	जी. पद्मावती	The Concept of the Death and Immorality in Katha and Iśopaniṣad	उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद	1978
367.	श्री जयदेव	उपनिषदों में यथार्थ वेदी दर्शन : महर्षि दयानन्द की दृष्टि में	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1978
368.	मुधबाला शर्मा	दयानन्द भाष्य में वैदिक देवताओं का स्वरूप	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1978
369.	श्री असहाब अली	वैदिक एवं इस्लामी मिथकों का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1979
370.	प्रतिभा देशमुख	Concept of Vedic Literature	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1979

(क्रमशः)

चंद्रेश सोना
उप-सचिव

No. 3650561/DS(P)/Desp/2017
प्रधान मंत्री कार्यालय
नई दिल्ली - 110011
PRIME MINISTER'S OFFICE
New Delhi - 110011

सत्यमेव जयते

18 मई, 2017

प्रो. शास्त्री जी,

प्रधान मंत्री जी को सम्बोधित दिनांक 24 अप्रैल, 2017 के पत्र के साथ आपके द्वारा भेजी गई पुस्तक 'वैदिक वाग् ज्योतिः अंक 6 और 7' प्राप्त हुई। धन्यवाद।

हार्दिक शुभकामनाओं सह,

आपका,

(चंद्रेश सोना)

प्रो. दिनेश चन्द्र शास्त्री
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
पो. गुरूकुल कांगड़ी
हरिद्वार
उत्तराखण्ड-249404

प्रकाश जावडेकर
Prakash Javadekar

सत्यमेव जयते

एफ.टी.एस. 32294 मा.सं.वि.मंत्री/2017
दिनांक/Dated मंत्री 17/5/17

मानव संसाधन विकास
भारत सरकार
MINISTER
HUMAN RESOURCE DEVELOPMENT
GOVERNMENT OF INDIA

17 MAY 2017

प्रिय प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री,

आपके द्वारा प्रेषित *वैदिक वाग् ज्योतिः* के दो अंक आपके दिनांक 2 मई, 2017 के पत्र के साथ मुझे प्राप्त हुए। वैदिक अध्ययन पर आधारित यह एक अच्छी शोध पत्रिका है।

सादर,

आपका,

(प्रकाश जावडेकर)

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री,
सम्पादक एवं विभागाध्यक्ष,
वेदविभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार,
उत्तराखण्ड–249 404

Room No. 3, 'C' Wing, 3rd Floor, Shastri Bhavan, New Delhi-110 115
Phone : 91-11-23782387, 23782698, Fax : 91-11-23382365
E-mail : minister.hrd@gov.in

Tel.: 26173051,41652399
(M): 9818202120

डा. श्याम सिंह शशि
Dr.S.S.Shashi
Ph.D., D.Litt. (Padmashri Awardee)
Former Director General Pub. Div. (I&B) Govt. of India

Anusandhan
B-4/245, Safdarjung Enclave,
New Delhi-110 029

Dated 16.05.2017

Dr. Dinesh Chandra Shastri,
'Vaidika Vag Jyotih',
Gurukul Kangri,
Haridwar (Uttrakhand).

Dear Prof.(Dr.) Dinesh Chandra Shastri Ji.

Please refer to your Research Journal 'Vaidika Vag Jyotih' (वैदिक वाग ज्योतिः) issues of January-June 2016 and July-December 2016. I have gone through some of the articles, published in various languages and admire the theme as well as treatment of the subject. The Vedic theory of violence- "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति " requires further discussion on the subject. In fact, Buddhism and Jainism had gone to the extreme for establishing the theory of 'Non-violence'-(अहिंसा परमो धर्म) which had damaged also the society and country as a whole. Obviously, some articles contain the balanced view in this regard. Similarly, Prof. Shashi Tiwari's article titled "Vedic Religion – Central Aspect", Prof. Roop Kishor Shastri's "Concept of Purusa….", yours on "Incarnation" and all others are thought-provoking and full of deep knowledge.

I admire the scholars' original contribution in the field of Indological, Spiritual and Composite Culture, leading to Maharishi Dayananda's mission- 'Krivanto Vishwa Aryam'.

Perhaps, you know that I have authored 400 books in English and over 100 in Hindi including poetic works, encyclopedias, tribal literature and 'Mini Encyclopaedia of Vaidik Scriptures and Other Religious Books', which I wrote for young scholars. I have also contributed research as well as journalistic articles to various leading Dailies mostly during the period 1970 to 1990.

With best wishes.

Yours sincerely,

Prof. Dr. Shyam Singh Shashi
Padmashri Awardee

विश्व के सांस्कृतिक एवं
आध्यात्मिक पुनरुत्थान हेतु एक अभिनव स्थापना
An Establishment for Cultural &
Spiritual Renaissance of the Globe

देव संस्कृति विश्वविद्यालय
DEV SANSKRITI VISHWAVIDYALAYA

दिनाङ्कः:29.5.2017

परमात्मीयाः प्रो० दिनेशचन्द्रशास्त्रिमहाभागाः

अत्र कुशलं तत्रास्तु।

'वैदिकवाग्ज्योतिः' नाम्नीं त्रैमासिकीं पत्रिकामवलोक्याधीत्य च मोमुद्यते मे मनः। देववाणीं वेदज्ञानाभिलक्ष्यास्मिन्नुपेक्षापूर्णे युगे अस्ति कश्चन प्रकाशस्तम्भायमानो विद्वान् यो वैदिकरत्नाकरे सञ्चरिष्णूनां शेमुषीकाणां यूनामुत्साहं विवर्धयिषुः, यमालम्ब्य मननतरितीर्णवेदार्णवाः स्वान्-स्वान् वेदविचारराशीन् जिज्ञासूनां समक्षं समुपस्थापयितुं सक्षमाः सोत्सुकाश्च भवन्ति इति ध्यायन्-ध्यायन् परमानन्दमनुभवामः।

पत्रिकायामस्यां वेदेतरविषयाणां समावेशः अस्याः गुणगरिमाणमाहन्तीति मे विचारः। अस्याः कलेवरः शोभनः, मुद्रणं व्यशुद्धिकं विषयाश्च रोचकाः इत्यत्र नास्ति संशीतिलेशावसरः।

'सर्वज्ञानमयो हि सः' इति वचनमाकृत्य यदि वैदिकतत्त्वानां वैज्ञानिकं चिन्तनं क्रियेत तर्हि पत्रिकेयं सुवर्णसौरभायिता स्यादिति मे निवेदनम्।

शुभकामनानां राशयः सन्त्विति मनोभावं प्रकटयन्-

भावत्कः

चतुर्वेदोपाध्यायो राधेश्यामः